सन्मति प्रकाशन—नं० ११

मगध

(इतिहास और संस्कृति)

लेखक
बैजनाथसिंह 'विनोद'

प्रकाशक
जैन संस्कृति संशोधन मंडल
पो० बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी

१९५४

प्रकाशक
दलसुख मालवणिया,
मंत्री
जैन संस्कृति संशोधन मंडल
बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी

मूल्य : १)

मुद्रक
श्री परेशनाथ घोष
सरला प्रेस,
बनारस

प्रकाशकीय

श्री 'विनोद' जी की प्रस्तुत पुस्तिका में मगध का प्राचीन इतिहास सांस्कृतिक दृष्टिकोण से लिखा गया है। वाचक देखेंगे कि प्राचीन काल में मगधदेश श्रमण धर्मों के विकास का केन्द्र रहा है। यह भी देखेंगे कि वहाँ श्रमण और ब्राह्मणों का संघर्ष और समन्वय किस प्रकार हुआ है। लेखक ने प्राचीन मगध की संस्कृति का जो संक्षिप्त चित्र खींचा है वह किसी खास धर्म के पक्षपात से नहीं किन्तु एक ऐतिहासिक की तटस्थ दृष्टि से। मैं श्री 'विनोद' जी का आभारी हूँ कि उन्होंने अपनी पुस्तिका प्रकाशनार्थ मंडल को दी।

दलसुख मालवणिया
मंत्री
जैन संस्कृति संशोधन मंडल
बनारस

विषय-सूची

मगध

(इतिहास और संस्कृति)

वेदों में मगध का उल्लेख

अंगुत्तर निकाय के अनुसार मगध भारतवर्ष के प्राचीन सोलह महा जनपदों में से एक जनपद था। ऋग्वेद में मगध शब्द का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। ऋग्वेद में कीकटों के देश का उल्लेख इस प्रकार है :—

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति घर्मम्।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धया नः॥

—ऋग्वेद, ३।५३।१४.

अर्थात्—वे क्या करते हैं कीकटों के देश में जहाँ गायें पर्याप्त दूध नहीं देतीं और न उनका दूध (सोमयाग के लिये) सोमरस के साथ मिलता है। हे मघवन् तू प्रमगन्द के सोमलता वाले देश को भली भाँति हमारे हुंकार से भर दो।

यहाँ प्रमगन्द से नैचा शाखा (नीच जाति=अनार्य ; स्थान—पूर्व) की ओर संकेत है। और प्रमगन्द=अवैदिक ; स्थान पश्चिमोत्तर की ओर संकेत है। यह याद रहे कि इस समय वैदिक आर्यों की आवास-भूमि भी मध्यदेश था। यहाँ मगध शब्द का उल्लेख नहीं है, पर कीकटों का देश ही मगध है। मगध के प्रति हीन भावना है। मगध मध्यदेश के पूर्व में है।

अथर्ववेद में मगध का स्पष्ट उल्लेख है :—

गन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मगधेभ्यः ।
प्रैषन् जनमिव शेवधिं तक्मनं परिदद्मसि ॥

—अथर्ववेद ५। २३।१४.

(हे ज्वरनाशन देव, तुम) तक्मन (ज्वर) को गन्धारियों, मूजवन्त के निवासियों, अंग के रहने वालों तथा मगध के बसने वालों के पास उसी प्रकार सरलता से भेजते हो, जिस प्रकार किसी व्यक्ति या कोष को एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेज देते हैं।

फिर अथर्ववेद में ही :—

"......प्रियं धाम भवति तस्य प्राच्यं दिशि । ४
श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानं वासो हरुष्णीषं
रात्री केशा हरितौ प्रवर्त्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ ५ ॥

—अथर्ववेद १५।२।१–५.

अर्थात्—व्रात्य का प्रिय धाम प्राची दिशा। उसकी श्रद्धा स्त्री और मागध मित्र।

यह तो मगध जनपद का उल्लेख हुआ ब्राह्मण धर्म के अति प्राचीन साहित्य—वैदिक साहित्य में। अब हम यह देखें कि और किस साहित्य में—अति प्राचीन काल में—मगध का जिक्र है।

प्राचीन जैन ग्रंथों में मगध

जैन धर्म के अति प्राचीन ग्रन्थों में मगह का उल्लेख है। प्रज्ञापना सूत्र (१ पद), सूत्रकृतांग और स्थानांग में मगह को राजगृह का आर्य जनपद कहा गया है। आचारांग में मगहपुर और राजगृह का उल्लेख है। निशीथ सूत्र में उल्लेख है कि एक समय में जब तीर्थंकर महावीर साकेत में धर्म प्रचार कर रहे थे, तो उन्होंने कहा कि—जैनों का चरित्र और ज्ञान मगध तथा अंग देश में अक्षुण्ण रह सकता है।

इन सब उद्धरणों से स्पष्ट है कि श्रमण संस्कृति में मगध को पवित्र माना गया है। उसे आर्य—अर्थात् श्रेष्ठ लोगों का जनपद कहा गया है। मगध में जैन-ज्ञान और आचार की रक्षा भी मानी गई है। इस समय मगध अच्छी तरह से बस चुका था और आर्य राज्यों और उपनिवेशों की स्थापना हो चुकी थी। सुशासन और सुव्यवस्था से चोर डाकुओं से रक्षा और सामाजिक आचार की सुविधा थी।

व्रात्य और मगध

अथर्व वेद में व्रात्यों का प्रिय धाम प्राची दिशा को बताया गया है। यहाँ मगध की ओर संकेत है। श्रमण संस्कृति में व्रत धारण करने के कारण श्रमणों को व्रात्य कहा गया है जैन-निर्ग्रन्थ-व्रात्य थे। वे वेदों को प्रमाण नहीं मानते थे। वे याग-यज्ञ और पशु-हिंसा का विरोध करते थे। तपस्या से आत्मशोधन में विश्वास करते थे। इसीलिए उनको व्रात्य कहा गया है। ये व्रात्य देश के अन्य भागों में भी रहते थे। जैन अनुश्रुति के अनुसार जैनों के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ देव कोसल देश के राजा थे। नेमिनाथ सूरसेन प्रदेश के रहने वाले थे। पार्श्वनाथ काशी के राजकुमार थे। इस प्रकार व्रात्य तो देश के और भागों में भी फैले थे। पर व्रात्यों की पुण्यभूमि मगध को ही कहा गया है। इसका यह मतलब हुआ कि व्रात्यों की साधनाभूमि मगध प्रदेश था। और जैन अनुश्रुति के अनुसार जैनों के चौबीस तीर्थंकरों में से बीस का निर्वाण यहीं हुआ था। इसी से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक याग-यज्ञों को अमान्य कर व्रत और तपस्या पर जोर देने वाले व्रात्यों का पीठस्थान मगध था। इसीलिए अथर्व वेद में व्रात्यों का प्रियधाम प्राची दिशा को कहा गया है और मागधों को उनका मित्र बताया गया है। लाट्यायन श्रौतसूत्र (८, ६, २८) और कात्यायन श्रौतसूत्र (२२, ४ २२) में इस बात का उल्लेख है कि व्रात्य धन या तो पतित ब्राह्मण को दिया जाय या मगध के ब्राह्मण को दिया जाय। इससे यह

भी स्पष्ट होता है कि मगध के ब्राह्मण भी वेद और वेदानुमोदित याग-यज्ञ को आसानी से छोड़ देते थे। उन पर श्रमण और यति विचार-धारा का प्रभाव शीघ्र पड़ता था। जैन धर्म के प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख है कि मगध के अच्छे-अच्छे विद्वान् ब्राह्मणों ने जैन धर्म स्वीकार किया। जैन तीर्थंकर महावीर के प्रथम शिष्य और प्रमुख गणधर इन्द्रभूति गौतम मगध के प्रसिद्ध ब्राह्मण विद्वान् थे, जिहोंने जैन धर्म स्वीकार किया था।

ब्राह्मण धर्म के बाहर

शतपथ ब्राह्मण (१, ४; १, १०) में इस बात का भी जिक्र है कि मागधों की तो बात ही क्या कोसल और विदेह भी प्राचीनकाल में पूर्ण रूप से ब्राह्मणधर्म में दीक्षित नहीं थे। वस्तुतः भारतवर्ष के पूर्वी भाग में वैदिक आर्यों का पूरा बल नहीं था। इसीलिए देश के इस भाग में निग्गन्थ, सांख्य, भागवत और यति धर्म जोरों पर था। इन धर्मों का उपदेश करने वालों को श्रमण, यति, अर्हत, जिन, तीर्थंकर आदि कहते थे। इन धर्मों को मानने वाले सभी सांप्रदायों में यह एकता थी कि कोई भी वेदों को प्रमाण नहीं मानते थे। आगे चलकर इनमें से भागवत और सांख्य ने तो वेदों को प्रमाण रूप में स्वीकार भी कर लिया। पर श्रमणों की परम्परा के निग्गन्थों और बौद्धों ने वेदों को प्रमाण रूप में नहीं ही स्वीकार किया।

महावीर से पूर्व

इन निग्गन्थों का अपना साधु संघ भी था। अति प्राचीन काल में इस साधु संघ का मुख्य आधार अहिंसा और योग अथवा तप था। पर ८०० ई० पू० में पार्श्वनाथ ने सम्प्रदाय में संशोधन करके उसके चार आधार बनाए—अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह। इसे पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म भी कहते हैं। पार्श्वनाथ ने इस चातुर्याम धर्म का खूब प्रचार किया। बंगाल के राढ़ देश में भी पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्मका

प्रचार किया था। पर पार्श्वनाथ की मृत्यु के कुछ काल बाद उनके साधु संघ में शिथिलता आ गई। साधु लोग बिना प्रयत्न किए जुट गए भोगने वाले पदार्थों के भोग में किसी प्रकार का संकोच नहीं करते थे। महावीर के साथ आजीवक साम्प्रदाय का जिन बातों पर मतभेद हुआ, उनमें से मुख्य ये थीं—१, शीतल जल का उपयोग करना, २, अपने लिए तैयार किए गये अन्न और भोजन का ग्रहण करना, और ३, बिना विवाह किए मिल गई स्त्रियों का भोग करना। इनमें से तीसरी बात पार्श्वनाथ के शिष्यों में भी आ गई थी, जिसका महावीर ने विरोध करके साधु संघ को पंच महाव्रतों से बांध दिया। महावीर के पंच महाव्रतों में चार तो पार्श्वनाथ के चातुर्याम ही थे। पांचवें ब्रह्मचर्य को महावीर ने बढ़ाया। इस ब्रह्मचर्य महाव्रत के कारण जैन साधुओं को यों ही—बिना प्रयत्न के—मिल गई स्त्रियोंके भोग से भी विरत होने के लिये बाध्य हो जाना पड़ा। साधना और तपस्या का यह प्रयोग विशेष रूप से मगध में हुआ। इन्हीं ऐतिहासिक कारणों से जैनों ने मगध को पुण्य भूमि माना। और व्रात्यों की पुण्य भूमि होने के कारण मगध ब्राह्मणों के लिये पाप भूमि हो गया।

मगध का प्रथम राज्य

पुराणों के अनुसार जन्हु की चौथी, सम्भवतः पांचवीं पीढ़ी में कुश और उसका भाई अमूर्तरया हुआ। इसी अमूर्तरया ने अथवा उसके पुत्र गय ने गया नाम का एक नया राज्य स्थापित किया, जो आगे चलकर मगध कहलाया। इसके बहुत दिनों बाद, कुरु की पांचवीं पीढ़ी में वसु नाम का एक बड़ा प्रतापी राजा हुआ। उसने यादवों के चेदि राज्य को जीतकर अपने अधीन किया। उसे चैद्योपरिचर भी कहते हैं। उसने मत्स्यदेश से लेकर मगध तक को अपने अधीन किया। उसने सम्राट चक्रवर्ती विरुद भी धारण किया। उसका राज्य उसके पांच पुत्रों में बंट गया। उसका एक पुत्र बृहद्रथ मगध का राजा हुआ। इसी बृहद्रथ ने

मगध में बार्हद्रथ वंश की नींव डाली। इस बार्हद्रथ वंश ने ही मगध की राजनीतिक सत्ता स्थापित की।

जरासन्ध और गिरिव्रज

बार्हद्रथ वंश में ही जरासन्ध नामक बड़ा प्रतापी राजा हुआ। कुछ विद्वान् जरासन्ध को वसुका पौत्र बताते हैं। जो भी हो; पर जरासन्ध का उल्लेख जैन ग्रन्थों में भी मिलता है और महाभारत में भी। जैन ग्रन्थों में मगहसिरी गणिका का उल्लेख है, जो जरासन्ध की गणिका थी (आव० चू० ४ अध्याय)। मगह सुन्दरी भी जरासन्ध की गणिका थी इसके अलावा आचारांग चूर्णि प्रथम श्रुतस्कन्ध में मगधसेना नामक एक वेश्या का उल्लेख है, जो धन नामक एक सार्थवाह पर आसक्त हो गई थी। पर उसने सम्पत्ति में मगन रहने के कारण मगधसेना की ओर ध्यान भी नहीं दिया। इस पर मगधसेना बड़ी खिन्न हुई। जरासन्ध के पूछने पर उसने कहा कि धन नामक सार्थवाह ने सम्पत्ति में मगन रहने के कारण उसके रूप और यौवन की उपेक्षा की, इसीलिए वह दुखी है। मगधसेना ने धन नामक सार्थवाह को व्यंग से अमर भी कहा है।

जरासन्ध बड़ा प्रतापी राजा था। उसने अंग, बंग, पुंड्र, करुष और चेदि देश को अपने वश में कर लिया था। चेदि का राजा शिशुपाल उसका प्रधान सेनापति था। आंध्रक-वृष्णि संघ का ज्येष्ठ (नेता) कंस उसका दामाद था। जरासन्ध एकराट राजा था। उसकी आकांक्षा भारत-सम्राट होने की भी थी। उसकी नीति साम्राज्य-विस्तार की थी। पर उस काल के महान नीतिज्ञ युगपुरुष श्रीकृष्ण से उसका वैर था। उस युग में कौरवों और पाण्डवों में भी भारतसम्राट होने की सामर्थ्य थी। श्रीकृष्ण की मैत्री पाण्डवों से थी। श्रीकृष्ण बहुत ही नीतिनिपुण थे। वह जानते थे कि तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति में जरासन्ध को युद्ध में नहीं जीता जा सकता और बिना जरासन्ध को मारे पाण्डवों की प्रतिष्ठा भारतसम्राट होने की सीमा

पर नहीं जा सकती। पर श्रीकृष्ण को जरासन्ध की कमजोरी का भी ज्ञान था। वह जानते थे कि जरासन्ध बहुत प्रसिद्ध मल्ल है। व्यक्तिगतरूप से वह बड़ा वीर और हठी भी है। श्रीकृष्ण ने जरासन्ध की इस कमजोरी अथवा उसके इस मानसिक रहस्य से फायदा उठाया। और वह भीम तथा अर्जुन को अपने साथ लेकर गुप्तरूप से जाकर उसके महल में प्रकट हुए।

जिस समय श्रीकृष्ण ब्राह्मण स्नातक के वेश में भीम और अर्जुन के साथ मगध की राजधानी गिरीव्रज में प्रवेश कर रहे थे, उस समय उन्होंने मगध की राजधानी गिरिव्रज की शोभा का वर्णन इस प्रकार किया :—

"हे पार्थ ! देखो, मगध राज्य का महानगर कैसा सुशोभित है। उत्तम-उत्तम अट्टालिकाओं से सुशोभित यह महानगरी सुजला, निरुपद्रवा और गवादि से पूर्ण है। वैहार, वराह, वृषभ, ऋषिगिरि तथा चैत्यक ये पांचों शैल सम्मिलित होकर गिरिव्रज नगर की रक्षा कर रहे हैं। पुष्पितशाखाग्र, सुगन्धपूर्ण मनोहर लोध्रवनराजि ने उन शैलों को मानों ढंक रखा है।" (महाभारत, सभा०)।

श्रीकृष्ण भीम और अर्जुन के साथ ब्राह्मण के वेश में थे। पुरोहित के विद्यार्थियों में मिलकर वह भी जरासन्ध के राजमहल में चले गए। पर जरासन्ध राजपुरुष था। उसे इन तीनों पर सन्देह हुआ। उसने कहा—'स्नातकों, ब्राह्मणों को तो मैंने माल्य और अनुलेपन के साथ देखा है ; पर उनके कन्धे पर प्रत्यंचा के निशान नहीं देखे। सच बताओ तुम कौन हो ? यदि ब्राह्मण हो तो पूजा स्वीकार करो।' यहाँ कृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि हम लोग ब्राह्मण नहीं, क्षत्रिय हैं और तुम्हारे शत्रु हैं। इस पर जरासन्ध ने कहा कि मैंने तुम्हारा कुछ भी नहीं बिगाड़ा ; फिर मुझे तुम अपना शत्रु कैसे कहते हो ? मजे की बात तो यह कि यहाँ भी श्रीकृष्ण अपने को स्पष्ट रूप में नहीं प्रकट करते ; वर्ना शायद जरासन्ध उनकी घात में न आता। यहाँ श्रीकृष्ण यही कहते हैं कि तुम बहुत

से क्षत्रियों को पकड़ कर रुद्र के निकट उनकी बलि देना चाहते हो। तुम मनुष्य बलि से शंकर की पूजा करना चाहते हो, यह सब से बड़ा पाप है। इसी कारण हम तुमको मल्ल युद्ध की चुनौती देते हैं। हम में से किसी के साथ लड़ो अथवा राज छोड़ दो। इस पर जरासन्ध जो कुछ कहता है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसने कहा कि मैंने बिना युद्ध में जीते किसी राजा को कैद नहीं किया और युद्ध में जीते राजा के साथ चाहे जैसा भी करना क्षत्रियोचित धर्म है।

'यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जरासन्ध ने जीते हुए क्षत्रिय राजा को बलि चढ़ा देना भी धर्म कहा है। इसका तर्कसम्मत उत्तर श्रीकृष्ण के पास नहीं था। खाण्डव वन में अर्जुन के साथ नाग जाति के मनुष्यों को श्रीकृष्ण ने ही जलाकर मारा और भगाया था। अर्थात् यह उस काल का साधारण धर्म था। इससे सिद्ध होता है कि महाभारत युद्ध के पहले तक जीते हुए शत्रु को मार डालने तक की प्रथा प्रचलित थी। शत्रु राजा को मार कर उसकी सेना को गुलाम भी बनाया जाता था। इसी कारण धर्म-शास्त्रों में दासों के एक प्रकार में युद्ध में जीते दासों की भी गिनती है।'

यदि डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार महाभारत युद्ध का काल ईसा से १४०० साल पूर्व माना जाय, तो कहा जा सकता है कि उस समय भारत में और मगध में नरबलि ही नहीं, नरपति-बलि की प्रथा थी। महाभारत के अनुसार जरासन्ध से पूर्व मगध में जरा नाम की एक राक्षसी थी, जो नर-शिशु का आहार करती थी। बौद्ध साहित्य के अनुसार बुद्ध ने इस राक्षसी के शिशु को चुराकर, उसके मन में शिशु के प्रति करुणा की भावना पैदा की और बाद में वह राक्षसी निषादों की देवी बन गई। इससे ऐसा लगता है कि बहुत प्राचीन काल में मगध में ऐसी जाति थी, जो नर-मांस का आहार करती थी। ऐसी ही विकट परिस्थिति में मानव समाज के कल्याण के लिये अहिंसा की भावना का आविष्कार हुआ होगा।

जरासन्ध ने मोटे-तगड़े भीम के साथ मल्ल युद्ध करना पसन्द कर अपने वीर-मानस का परिचय दिया। चौदह दिन युद्ध हुआ। जरासन्ध बूढ़ा था। थक गया था। हाँफ रहा था। ऐसी परिस्थिति का फायदा उठा कर युवक भीम ने श्रीकृष्ण का इशारा पाकर थके जरासन्ध को मार डाला। नीतिहीन जरासन्ध का बल निर्बल सिद्ध हुआ। जरासन्ध के बाद उसका पुत्र सहदेव मगध का राजा हुआ।

बिम्बिसार का मगध

कुछ विद्वानों का मत है कि बार्हद्रथ वंश का अन्तिम राजा रिपुंजय था। इसका पुलिक नामक एक अमात्य था। पुलिक ने षड्यन्त्र करके रिपुंजय को मार डाला और अपने बालक नामक पुत्र को मगध की गद्दीपर बैठाया। इस प्रकार मगध के सिंहासन से सदैव के लिये बार्हद्रथ वंश का अन्त हो गया। पर बालक का शासन ठीक से स्थापित न हो सका। मगध के क्षत्रियों की श्रेणी ने बालक के शासन को स्वीकार नहीं किया। उस काल में क्षत्रियों की, जिनमें अधिकतर सैनिक होते थे, अनेक ऐसी श्रेणियाँ थीं, जिनका संगठन राज्य से सर्वथा स्वतन्त्र होता था और जिनका सहयोग प्राप्त करना राजा के लिये परम आवश्यक माना गया है। मगध के क्षत्रिय श्रेणियों ने बालक के राज्य का विरोध किया। भट्टिय नामक एक सरदार ने मगध में विद्रोह कराकर राज्य सिंहासन पर अधिकार कर बालक को मरवा डाला। पर भट्टिय स्वयं राज्य सिंहासन पर नहीं बैठा। उसने अपने लड़के बिम्बिसार को मगध के सिंहासन पर बैठाया। भट्टिय सैनिक दलों का नेता ही बना रहा। बाद में शायद बिम्बिसार मगध के राजा के साथ सैनिक दलों का नेता भी हो गया। इसीलिए उसे श्रेणिक बिम्बिसार भी कहते हैं।

यहीं से मगध में नाग-वंश का शासन स्थापित होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि मगध में सबसे पहला नाग राजा शैशुनाग है। पर कुछ लोग इसे नहीं मानते। हमारा काम इस विवाद में पड़ना नहीं

है। पर इतना स्पष्ट मालूम पड़ता है कि मगध में नाग क्षत्रियों की बस्ती थी। गिरिव्रज के बीच में मणिनाग का स्थान था, जिसे मणियार मठ के नाम से अब भी लोग जानते हैं। अतः मगध में नाग क्षत्रियों का आधिपत्य होना सर्वथा स्वाभाविक था।

श्रेणिक बिम्बिसार हर्यङ्क वंश का था। हर्यङ्क-वंश भी विस्तृत नाग जाति की ही एक शाखा है। अतः इस तथ्य में कुछ भी फरक नहीं पड़ता कि बार्हद्रथ वंश के बाद मगध में नागों की सत्ता स्थापित हुई। पर मगध में नागों की सत्ता स्थापित होने के पूर्व काशी में नागों की सत्ता स्थापित हो चुकी थी। ई० पू० ६०० में काशी में नागों की सत्ता स्थापित थी। वस्तुतः परीक्षित की मृत्यु के बाद नाग पुनः प्रबल हो गए थे। काशी नाग जाति का पीठ स्थान था। काशी के देवता शंकर महादेव थे। तीन लोक से न्यारी और शिव के त्रिशूल पर काशी का अर्थ है कि काशी के नाग क्षत्रियों ने वैदिक आर्यों की प्रधानता को बहुत दिनों तक नहीं माना था। जैन तीर्थंकरों में तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ काशी के नाग-क्षत्रिय थे। राजकुमार थे। वह काशी के ब्रह्मदत्त राजाओं की परम्परा में थे। पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति हैं और उनका काल ई० पू० ८०० है। इन सब से सिद्ध है कि यह पूर्व में नागों के अभ्युत्थान का काल था।

बिम्बिसार जब मगध की गद्दी पर बैठा तो मगध एक छोटा सा राज्य था। बुद्ध के समय में मगध का विस्तार आज के पटना जिला और गया जिला के उत्तरी भाग तक को घेरता था। इसी भाग को आज मगध भी कहते हैं। सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् राइस डेविड मगध की सम्भावित सीमाएं इस प्रकार बताते हैं—उत्तर में गंगा, पच्छिम में सोन, पूरब में अंग देश और दक्षिण में छोटा नागपुर का जंगल।

विद्वानों का मत है कि लगभग ई० पू० ५४३ में बिम्बिसार ने मगध का शासन सूत्र सम्हाला। उसने अपनी राजधानी गिरिव्रज से जरा हटा ली। उसने वैभार और विपुल गिरि के उत्तर सरस्वती नदी के पूरब तथा

उष्णप्रस्रवण से कुछ दूर जो अपनी नई राजधानी बसाई उसी का नाम राजगृह है। गिरिव्रज के अवशेष स्वरूप 'जरासन्ध का अखाड़ा', 'जरासन्ध का मचान' और उसके परकोटे आज भी हैं। उसी से जरा हट कर राजगृह का निर्माण बिम्बिसार ने कराया। बिम्बिसार बहुत महत्वाकांक्षी था। उसने पहले अपने पास-पड़ोस के छोटे राजाओं को जीता और फिर आगे बढ़ कर अंग को जीत कर सभी को मगध में मिला लिया। उसने कई एक ऐसी शादियाँ की जिनका राजनीतिक महत्त्व था। उसकी एक रानी कोसल देश के राजा प्रसेनजित की बहन थी। उसकी दूसरी एक रानी चेल्लना लिच्छवि प्रमुख चेटक की बहन थी। एक रानी विदेह कुमारी थी। इन वैवाहिक सम्बन्धों से बिम्बसार ने काफी लाभ उठाया। कोसल की राजकुमारी के साथ व्याह के अवसर पर उसे काशी का राज्य दहेज में मिल गया, जो उस समय कोसल के अधीन था। इस प्रकार मगध राज्य की सीमा का उसने काफी विस्तार किया।

पार्श्वनाथ का धर्म

श्रेणिक बिम्बिसार का महत्त्व राजनीति की अपेक्षा सांस्कृतिक दृष्टि से अधिक है। वह स्वयं नाग क्षत्रिय था। नाग क्षत्रिय परम्परा से वैदिक कर्मकाण्डों से अलग थे। वह व्रात्य थे। एक नाग क्षत्रिय पार्श्वनाथ ने पार्श्वापत्य धर्म की स्थापना की थी, जिसे चातुर्याम धर्म भी कहते हैं। इस धर्म के मानने वाले मगध, अंग और वज्जिसंघ में थे। चातुर्याम धर्म द्वारा जन साधारण में कुछ नैतिक चेतना भी जाग्रत हुई थी। यह चातुर्याम धर्म—अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह था। अहिंसा और सत्य तो अति प्राचीन धर्म हैं। इन्हीं दोनों सिद्धान्तों के सहारे बर्बर मनुष्य बर्वरता से ऊपर उठ सका। अचौर्य और अपरिग्रह की प्रतिष्ठा सम्भवतः पार्श्वनाथ ने की है। किसी की वस्तु को बिना दिये हुये लेने को चोरी कहते हैं। चोरी करने वाला अपने आप में कुछ हीन—कुछ

कमजोर—हो जाता है। समाज में भी अव्यवस्था पैदा होती है। इसलिए चोरी से दूर रहने की बात पार्श्वनाथ ने जो प्रचारित की सो तो समझ में आ जाती है। पर अपरिग्रह का प्रचार क्यों किया? इसे समझने के लिये परिग्रह का जान लेना आवश्यक है। बृहत्कल्प-भाष्य में (८२५), आ० भद्रबाहु के अनुसार परिग्रह के दस भेद हैं:—

"खेत, वास्तु (मकान), धन (सोना-चाँदी), धान्य (चावल आदि अन्न), कुप्य (बर्तन), संचय (हिंग मिर्च आदि मसाले), ज्ञानिजन, दासदासी आदि, यान (पालकी रथ आदि) और शयन-आसन।"

आध्यात्मिक साधना में तो इन परिग्रहों द्वारा बाधा पड़ ही सकती है। सामाजिक व्यवस्था के लिये भी इन परिग्रहों से बचना आवश्यक था। पार्श्वनाथ ने खूब अच्छी तरह प्रचारित किया कि दास-दासियों को बिना मुक्त किये धर्म का जीवन, साधना का जीवन नहीं बिताया जा सकता। इसका एक प्रभाव यह भी हुआ होगा कि जो गरीब अथवा साधारण जन थे, उनके प्रति धनिकों में हीन दृष्टि का जोर नहीं बढ़ा होगा। फलतः जन साधारण कुछ ऊपर उठे होंगे। पर उत्तराध्ययन से यह सिद्ध है कि महावीर के पहले अपरिग्रह धर्म में शिथिलता आने लगी थी। उस शिथिलता को दूर करने के लिये ही महावीर ने नग्नाता पर जोर दिया। यह तीर्थंकर महावीर श्रेणिक बिम्बिसार के समय में थे। कहा जाता है कि बिम्बिसार अपनी रानी चेल्लना के प्रभाव से जैन हो गया। एक कथा है कि एक बार श्रेणिक बिम्बिसार शिकार खेलने जंगल में गये थे। जंगल में उन्हें एक जैन साधु समाधि लगाये मिल गये। बिम्बिसार ने किसी कारण चिढ़कर जैन मुनि के गले में एक मरा सर्प लपेट दिया। महल में वापस आने पर उन्होंने अपनी रानी चेल्लना से इस घटना का उल्लेख किया। यह सुनकर चेल्लना बहुत दुखी हुई। वह पार्श्वापत्यिक मुनियों से परिचित थी। उसने उक्त मुनि का दर्शन करना चाहा। चेल्लना

बिम्बिसार की बड़ी प्रिय रानी थी। उसकी इच्छा रखने के लिये बिम्बिसार उसे लेकर जहाँ मुनि समाधि लगाए बैठे थे, वहाँ जंगल में गये। चेल्लना ने स्वयं मुनि के गले में पड़े मरे सर्प को हटाया। मुनि ने विघ्न हटा जान कर समाधि भंग किया और राजा तथा रानी को आशीर्वाद दिया। इस घटना का बिम्बसार के जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। पर यह कहानी महाभारत की शृंगि ऋषि की कथा की अनुकारी भी मालूम होती है। किंतु इसमें सन्देह नहीं कि बिम्बिसार जैन हो गया था।

अवैदिकी विचारों का केन्द्र मगध

बिम्बिसार का महत्त्व इसलिए भी है कि उसके काल में मगध और उसकी राजधानी राजगृह प्राचीन रूढ़ियों के खण्डन और नये विचारों के प्रवर्तन का बड़ा भारी केन्द्र था। यदि वह उदार न होता, यदि वह नये विचारों का आदर न करता, तो उसके राज्य में तत्त्वचिन्तकों—विचारकों—का केन्द्र न होता।

बौद्ध ग्रन्थों में छै शक्तिशाली विचारकों का उल्लेख है। ये सभी मगध के मूल निवासी नहीं हैं; पर इन सभों की साधना भूमि मगध है। इनमें अजित केशकम्बलिन्, मक्खली गोसाल, पूर्ण काश्यप, प्रकुध कात्यायन, संजय वेलट्ठि पुत्त और निगन्थ नाथपुत्त (महावीर) हैं। ये सभी वैदिक विचारधारा के विरोधी थे। अजित केशकम्बलिन् की विचारधारा को पूर्ण रूप से सामने रखने का साधन नहीं है। पर इतना स्पष्ट है कि वह वैदिक याग-यज्ञों का विरोधी था। वह चार महाभूतों से सृष्टि की उत्पत्ति और मृत्यु के बाद उन्हीं में लय मानता था। परलोक और उसके लिये किये जाने वाले दान-पुण्य को वह झूठा समझता था। एक जन्म के पाप-पुण्य को दूसरे जन्म में भोगने और ब्रह्मज्ञानी होने का भी वह मजाक करता था। मक्खली गोसाल आजीवक सम्प्रदाय का नेता था। मगध से श्रावस्ती तक यह सम्प्रदाय फैला था। मक्खली बहुत गरीब मां-बाप का बेटा था। गोशाला में पैदा होने के कारण

उसको गोसाल कहते हैं। पर पाणिनि ने मस्करी शब्द को गृहत्यागियों के लिये माना है। इसके अनुसार लेने पर साधु गोसाल अर्थ होगा। यह याद रहे कि पाणिनि को बहुत से विद्वान ई० पू० ७ वीं शती का मानते हैं। गोसाल महत्त्वाकांक्षी भी था। इसका मत था कि जीव चौरासी लाख योनियों में चक्कर खाते-खाते परम विशुद्ध दशा में आकर तपस्वी होता है और मोक्ष पाता है। इससे पहले ही प्रयत्न करके कोई मोक्ष नहीं पा सकता। यह जीवन का रास्ता इतना नपा तुला मानता था कि उसमें अच्छे और बुरे कर्मों से कोई भी अन्तर नहीं पड़ता था। शायद इसीलिए यह संयम पर भी विशेष जोर नहीं देता था। पूर्ण काश्यप वैदिक कर्मकाण्ड और औपनिषदिक ब्रह्मवाद का विरोधी था। वह न परलोक मानता था, न परलोक में भोगने वाला पाप-पुण्य। इस प्रकार वह स्वर्ग की कल्पना का भी विरोधी था। प्रक्रुध कात्यायन हर वस्तु को अचल और नित्य मानने वाला था। वह एक प्रकार के नियति वाद का माननेवाला था। वह आत्मा की गति को इतना निश्चित मानता था कि उसमें अपने शुभाशुभ कर्मों द्वारा किसी प्रकार का रद बदल सम्भव नहीं समझता था। संजय वेलट्ठि पुत्त संशयवादी था। एक तरह से उसका दर्शन निराशावादी था। निगन्थ नाथपुत्त (महावीर) पार्श्वनाथ के उत्तराधिकारी, उनके मत के संशोधक और जैन धर्म के बहुत बड़े व्याख्याता थे। ये अपने युग के बहुत बड़े आध्यात्मिक नेता थे। इनका पारिवारिक सम्बन्ध उस काल के मध्य देश के प्रायः सभी प्रमुख राज-खानदानों से था। बिम्बिसार भी उनका रिश्तेदार था। बुद्ध की साधना-भूमि और सिद्धि-भूमि दोनों ही मगध है। बड़े मजे में कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म की जन्मभूमि मगध है। बिम्बसार बुद्ध का भी बहुत बड़ा प्रशंसक, भक्त और आश्रयदाता था।

जैन और बौद्ध धर्म में एकता और भिन्नता

बौद्ध धर्म का जन्म मगध में हुआ। जैन धर्म का प्रभाव मगध से

चढ़ा। बिम्बिसार ने दोनों को माना, दोनों को सराहा। बौद्ध और जैन दोनों ही धर्म वैदिक याग-यज्ञों के विरोधी थे। दोनों ही व्रात्य-परम्परा के विकसित सुमन थे। दोनों ने मनुष्य के पुरुषार्थ पर जोर दिया। दोनों ने भावी जन्मों का आधार कर्मों को माना। दोनों ने ब्राह्मण पुरोहितों और उनकी भाषा छान्दस को अस्वीकार किया। किन्तु इस एकता के बावजूद दोनों में कुछ अन्तर भी है। बुद्ध ने प्राचीन श्रमण परम्परा को छोड़कर अपने नये मध्यम-मार्ग की स्थापना की। पर महावीर ने प्राचीन श्रमण परम्परा—पार्श्वनाथ के मत, उनके विनय और संघ को—स्वीकार किया, उसको परिशुद्ध किया और उसी को माना। बुद्ध ने न अत्यन्त तप को स्वीकार किया और न भोग को। पर महावीर ने तप पर जोर दिया और उसी के लिये ब्रह्मचर्य को भी अनिवार्य कहा। बुद्ध ने नित्य आत्मा को भी नहीं माना। पर महावीर ने साधना और तपस्या द्वारा जीव का—आत्मा का—परम आत्मा होना तक स्वीकार किया। पर दोनों के ब्राह्मण धर्म विरोधी रूप में विशेष अन्तर नहीं हैं।

जैन, बौद्ध और जनभाषा

यही नहीं, इस काल में एक और भी बहुत बड़ी क्रान्ति हुई। व्रात्यों के अलावा भी एक किस्म का ब्राह्मण-विरोध उस काल में था। वह उपनिषदों का विद्रोह था। पर उपनिषदों का विद्रोह वेदों और ब्राह्मणों के विरुद्ध अभिजात क्षत्रिय वर्ग का विद्रोह था। दोनों की भाषा छन्दस् की भाषा थी, संस्कृत थी। आभिजात्य भाषा संस्कृत थी। पर जब हीन वर्गीय विद्रोह ने आन्दोलन का रूप लिया, तब जिन, बुद्ध और भागवतों ने अपने संगठनों के द्वार हीन वर्णों के लिये भी खोल दिये। महावीर और बुद्ध अभिजात वर्ग के थे। परन्तु उनका साझा, उनकी चेतना, उनकी प्रेरणा हीन वर्ग के लिये भी थी। इसीलिए उन्होंने जहाँ ब्राह्मण वर्णाश्रम धर्म का विरोध किया, वहीं उनकी भाषा—देववाणी—संस्कृत पर भी कुठाराघात किया। संस्कृत—छान्दस्—के स्थान पर उन्होंने प्राकृत

और पालि को अपनाया। यह याद रहे कि महावीर और बुद्ध भी राज-कुलोत्पन्न थे। पर ये अभिजातकुलीय उपनिषद् के जानपद राजाओं की भाँति संस्कृत में अपने प्रवचन नहीं करते। बल्कि इस काल के आन्दोलन के नेता—महावीर और बुद्ध—सामान्य जनता की भाषा में अपना निर्देश करते हैं। इन दोनों नेताओं ने समझा कि आन्दोलन की प्रेरणा में शब्द सहायक होता है और शब्द ऐसा नहीं कि वह प्रवचन रूप में पूज्य मात्र रहे, वरन् ऐसा कि वह जिनसे कहा जाय, उनके द्वारा समझा जाय और उनको आगे आने के लिये, विकसित होने के लिये प्रेरित करे। जनभाषा—प्राकृत और पालि—स्वाभाविक ही जनान्दोलन की वाणी बनी।

पर यहाँ भी जैनों और बौद्धों का एक फरक है—एक अन्तर है। पालि उस काल के मध्यदेश की शिष्ट भाषा है—लोक प्रचलित ज़बान है; जब कि प्राकृत मगध के निम्नवर्ग, निम्नतम वर्ग की भाषा थी, जिसका शिष्ट प्राकृत के रूप में विकास प्रथम शती में हुआ। पालि का संस्कृत से थोड़ा ही भेद था, जब कि प्राकृत मगही से ज्यादा नज़दीक और संस्कृत से थोड़ी दूर थी। उस काल की मागधी प्राकृत का ठीक ठीक रूप अब नहीं मिलता। पर भाषा शास्त्री विद्वानों का मत है कि उस काल की मागधी का प्रभाव मगध से पच्छिम मिर्जापुर जिले के पूर्वी हिस्से और उन्नाव जिले तक था। इसी कारण इधर की भाषा का नाम अर्ध मागधी पड़ा। पूरब में मागधी का प्रभाव बंगाल और उड़ीसा तक था। इसी मागधी प्राकृत से आज की अनेक भाषाओं का जन्म हुआ।

व्रात्यों का तीर्थ मगध

जैनों और बौद्धों के कारण ही राजगृह तीर्थस्थान बन गया। तीर्थंकर महावीर ने विपुलाचल पर्वत पर निवास किया था और यहीं श्रेणिक बिम्बिसार को उपदेश दिया था। स्वर्णाचल (सोनगिरि), रत्नाचल, वैभार और उदयगिरि में भी जैन धर्म की प्राचीन कीर्तियों के अनेक

निदर्शन भरे पड़े हैं। बुद्ध ने वैभार पर्वत पर निवास किया था। यहाँ उनका उपदेश सुनने के लिये नगरवासी आते थे। राजगृह के पास ही गृद्धकूट नामक एक पहाड़ी है। उसके सम्बन्ध में एक कथा है कि मार—मन के असामाजिक भाव—ने गिद्ध का रूप धारण कर बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द को डरवाया था। पर बुद्ध के प्रभाव से उसकी सारी माया व्यर्थ गयी। कहते हैं, उसी समय से इस पहाड़ी का नाम गृद्धकूट पड़ा। इस पर्वत पर बुद्धदेव ने भी बहुत बार निवास किया था। महावीर ने राजगृह में अनेक वर्षावास किये थे। राजगृह से कुछ हटकर नालन्दा नामक स्थान है। यहाँ भी महावीर ने दो वर्षावास किया था। बुद्ध के भी यहाँ अनेक संस्मरण हैं। बाद में आगे चलकर इसी नालन्दा में जगत्प्रसिद्ध विश्वविद्यालय स्थापित हुआ। इस विश्वविद्यालय के खण्डहर मीलों तक पाये जाते हैं। नालन्दा के पास ही पावापुरी है, जहाँ महावीर का निर्वाण बताया जाता है। यह जैनियों का तीर्थस्थान है। यहाँ एक विशाल और सुन्दर तालाब के बीच में एक सुन्दर मन्दिर है, जिसमें महावीर के पदचिह्न हैं।

मगध साम्राज्य का प्रारम्भ

बिम्बिसार का पुत्र अजातशत्रु था। वह बहुत बड़ा महत्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी था। उसने अपने पिता बिम्बिसार को कैद कर राज्य प्राप्त किया और अन्त में कैद में ही बिम्बिसार की मृत्यु भी हुई।

मगध साम्राज्य के ठीक निकट, उसके उत्तर में वज्जियों का महान् संघ राज्य था। अजातशत्रु साम्राज्यवादी था। वह मगध साम्राज्य का प्रसार चाहता था। मगध साम्राज्य के प्रसार के लिये वज्जि संघ का विनाश आवश्यक था; पर अजातशत्रु के लिये वज्जि संघ का जीतना बड़ा कठिन था। अजातशत्रु ने वज्जि संघ को जीतने का उपाय बुद्ध से जानने की एक चाल चली। वह स्वयं बौद्ध था। बौद्ध धर्म का संरक्षक और सहायक था। इसलिए बुद्ध उसकी चाल में आ भी गये। अजातशत्रु ने अपने मन्त्री वस्सकार को बुद्ध के पास भेजा। वस्सकार ने बुद्ध

से वज्जि संघ जीतने का उपाय जानना चाहा। इस अवसर पर बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य आनन्द से वज्जि संघ के सम्बन्ध में जो प्रश्नोत्तर किये हैं, वह संघ राज्यों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण साहित्य का एक टुकड़ा है। उससे पता लगता है कि इन गण राज्यों का क्या बल था और इनमें क्या निर्बलता थी। यदि बुद्ध अजातशत्रु के मन्त्री वस्सकार के सम्मुख यह चर्चा न करते, तो उनकी इस चर्चा में राजनीति की गन्ध न होती। वह चर्चा साधु होती; पर दुःख है कि बुद्ध वैसा न कर सके। एक तरह से बुद्ध ने वस्सकार को लक्ष्य कर वह चर्चा की। और उस चर्चा से ही प्रेरित होकर वस्सकार अजातशत्रु की आज्ञा से—और कूट चाल के साथ—वज्जि संघ में गया। वहाँ जाकर उसने बुद्ध की शिक्षा के अनुकूल वज्जि संघ में फूट डालकर वज्जि संघ को कमजोर कर दिया। इधर अजातशत्रु ने बड़ी युक्ति से विशाल सेना एकत्र की। उसे विध्वंसक अस्त्र-शस्त्रों से सम्पन्न किया। कहा जाता है कि 'महाशिला कंटक' और 'रथमूसल' नामक भयंकर हथियारों के साथ मौका देखकर, वस्सकार के इशारे पर उसने वज्जि संघ पर हमला किया। कुछ अर्से तक तो युद्ध चला, पर अन्त में अजातशत्रु की विजय हुई। वैशाली का विनाश हो गया।

अजातशत्रु ने काशी, कोसल और अवन्ति तक को जीत लिया। वस्तुतः उसी ने सर्व प्रथम मगध राष्ट्र को एक साम्राज्य का रूप दिया। युद्ध में जीतने के बाद उसकी नीति उदार होती थी। धार्मिक दृष्टि से भी उसकी नीति उदार थी। उसने सभी धर्मों के प्रति आदर और सत्कार का व्यवहार किया; पर इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि अजातशत्रु की विशेष श्रद्धा बुद्ध के प्रति थी। बुद्ध के प्रति इसी श्रद्धा के कारण अजातशत्रु ने बुद्ध की मृत्यु के बाद, उनकी अस्थियों को पाने का प्रयत्न किया और बुद्ध की अस्थियों का एक अंश उसे मिला भी। बुद्ध की अस्थियों के उस एक अंश को प्राप्त कर उसने राजगृह के पास करण्डवेणुवन के पूरब में, उस अस्थि पर एक स्तूप खड़ा करवाया। यह स्तूप बुद्ध के प्रति

अजातशत्रु की श्रद्धा का प्रमाण है। अजातशत्रु के ही काल में राजगृह की सप्तपर्णीगुहा में बौद्ध धर्म की प्रथम संगीति हुई थी, जिसमें सभी प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षु एकत्र हुए थे और जिसमें बुद्ध की शिक्षाओं का प्रथम संकलन हुआ। बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द की मृत्यु के बाद आनन्द का भी स्तूप, बुद्ध स्तूप के पास ही बना।

धर्म और राज्य

अजातशत्रु स्वयं बौद्ध था। पर उसकी नीति जैन धर्म के प्रति भी इतनी उदार थी कि उसे कुछ लोग जैन भी कहते हैं। अजातशत्रु विजेता और साम्राज्यवादी था। उसने मगध साम्राज्य का विस्तार भी किया। अजातशत्रु के प्रभाव से उसके साम्राज्य के साथ ही साथ बौद्ध और जैन धर्म का प्रभाव भी बढ़ा। डॉ० याकोवी आदि कुछ विद्वानों का मत है कि बौद्ध और जैन धर्म के स्थानीय रूप से उठकर व्यापक महत्त्व प्राप्त करने का मुख्य कारण इन दोनों धर्मों को महत्त्वपूर्ण साम्राज्यवादो राजाओं का सहयोग था। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि धार्मिक सम्प्रदायों के विकास और प्रसार में राजाओं और प्रभु-वर्ग का हाथ नहीं होता। वस्तुतः बिना राजाश्रय के धार्मिक सम्प्रदायों का महत्त्वपूर्ण प्रसार सम्भव ही नहीं होता। और कोई भी राजा अपनी राजनीति के विरुद्ध जाकर धर्मों को प्रश्रय नहीं देता। बिम्बिसार के रुख को देखकर बुद्ध ने बौद्ध संघ में दासों, ऋणियों और सैनिकों का प्रवेश रोक दिया था। अशोक जरूर एक ऐसा सम्राट् था, जिसने अपने धर्म के लिए अपनी राजनीति की उपेक्षा की; पर इसी कारण उसके बाद ही उसका साम्राज्य नष्ट हो गया।

उदयि और पाटलिपुत्र

अजातशत्रु ने अपने पिता को कैद कर राज-शक्ति को प्राप्त किया था। अन्त में अजातशत्रु भी अपने पुत्र उदयि अथवा उदयिभद्र के षड्यन्त्रों द्वारा मारा गया। उदयिभद्र कोई बहुत बड़ा विजेता अथवा सेनापति नहीं था; पर निर्माण कार्य में इसको विशेष दिलचस्पी थी।

अजातशत्रु ने मगध साम्राज्य को बहुत बढ़ा दिया था। उसने वज्जि संघ को नष्ट भी कर दिया था; पर फिर भी वज्जि संघ की जातियाँ जीवित थीं। लिच्छवि जाति बहुत ही तेजोदृप्त थी। उसने पुनः करवट लेना शुरू कर दिया था। इसीलिए लिच्छवि जाति पर नजर रखने के लिये अजातशत्रु ने उनकी सीमा के पास गंगा और सोन के कोण में, जहाँ पाटल वृक्षों की संख्या अधिक थी, उसी पाटलिग्राम में एक किला भी बनवाया था। अब, जब उदयि के काल में साम्राज्य की आवश्यकताएँ बढ़ीं, तो उदयि ने उसी दुर्ग के पास पाटलि ग्राम में एक बहुत बड़ा नगर बसा दिया। इस नगर का नाम पाटलिपुत्र पड़ा। उदयि ने अपनी राजधानी राजगृह से हटाकर इसी पाटलिपुत्र में स्थापित की। उदयि पर जैन धर्म का काफी प्रभाव था। उसने पाटलिपुत्र में जैन मन्दिर भी बनवाया था; पर उदयि के काल में मगध राजनीतिक षड्यन्त्रों का केन्द्र बन गया था। जनता में भी इन पितृघाती राजाओं के प्रति घृणा का भाव छा रहा था। ब्राह्मण धर्म के प्रति उपेक्षा के भाव के कारण भी मगध राज्य बदनाम हो रहा था। अतः षड्यन्त्रों द्वारा ही उदयि का भी अन्त हुआ। इस प्रकार नाग जाति के हर्यङ्क वंश का मगध के सिंहासन से अन्त हो गया।

शिशुनाग वंश

हर्यङ्क वंश के अन्त के बाद मगध में शिशुनाग का उदय हुआ। कहा जाता है कि हर्यङ्क वंश के ढीले और विलासी शासन से तंग आकर मगध की प्रजा ने काशी प्रदेश के शासक शिशुनाग को, जो वहाँ मगध साम्राज्य का प्रतिनिधि था, बुलाकर मगध की गद्दी पर बैठाया। पर इसका सीधा और स्पष्ट अर्थ यह है कि शिशुनाग को मगध के षड्यन्त्र का पता था, वह कुशल राजनीतिज्ञ था, उसने कुशलतापूर्वक षड्यन्त्रों का सूत्र अपने हाथ में कर लिया और फिर इस खूबी से उसने मगध साम्राज्य पर अधिकार कर लिया कि कहीं कुछ विरोध भी न हो सका।

शिशुनाग नागवंशी था। सम्भवतः इसीलिए उसे आसानी से सफलता भी मिल गयी। शिशुनाग बड़ा वीर और विजेता था। उसने अवन्ती पर आक्रमण करके उसे जीतकर मगध साम्राज्य में मिला लिया। बाद में वत्स और कोसल की भी यही गति हुई। इस प्रकार शिशुनाग ने मगध साम्राज्य का विस्तार किया। आगे चलकर विलासिता के कारण शिशुनाग के कुल का भी विनाश हुआ और नन्दवंश की प्रतिष्ठा हुई।

नन्दों का मगध

नन्दवंश में नन्दिवर्धन बड़ा प्रतापी और विजयी राजा था। उसने कलिंग देश को जीत कर मगध में मिलाया था। विजय की स्मृति में कलिंग से जिन प्रतिमा भी लाया था। कश्मीर का भी उसी ने विजय किया था। पंजाब के प्रदेशों पर भी उसी का प्रभाव था; पर कश्मीर और पंजाब को उसने मगध साम्राज्य में मिलाया नहीं था। नन्दिवर्धन (अथवा कालाशोक ?) ने वैशाली में अपनी दूसरी राजधानी बनायी थी। इसी के राज्यकाल में वैशाली में बौद्धों की दूसरी संगीति हुई थी। यह संगीति अथवा सम्मेलन महीनों तक होता रहा, जिसमें उस काल के प्रायः सभी प्रमुख बौद्ध भिक्षुओं ने भाग लिया। इसी संगीति में बौद्ध धर्म के दो स्पष्ट सम्प्रदाय हो गये—एक को थेरवाद कहते हैं और दूसरे को महासांघिक। इन्ही दोनों से आगे चलकर हीनयान और महायान सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई। उपनिषद् काल से भारतवर्ष में यह परम्परा चली आ रही थी कि राजा राजसभा करके प्रसिद्ध विद्वानों का आदर करता था। नन्दिवर्धन के काल में भी यह सभा हुई थी। राजशेखर ने भी अपने काव्यमीमांसा में स्पष्ट कहा है कि उस काल में पाटलिपुत्र में शास्त्रकार परीक्षा हुआ करती थी। इस परीक्षा में वर्ष, उपवर्ष, पाणिनि, पिंगल और व्याडी नामक विद्वान् उत्तीर्ण होकर सम्मानित हुए थे। उपवर्ष वर्ष के भाई थे। वर्ष को पाणिनि का गुरु कहा जाता है। पिंगल, छन्द शास्त्र के पंडित थे। व्याडी ने व्याकरण का संग्रह ग्रंथ लिखा था;

परन्तु यह सर्वथा निर्विवाद तथ्य नहीं है। पाणिनि को निश्चित रूप से इसी काल में नहीं भी माना जा सकता। पर इतना स्पष्ट है कि पाणिनि इस काल में सर्व प्रसिद्ध वैय्याकरण थे।

नन्दवंश का प्रतापी और महा भयानक राजा महापद्मनन्द था। यहाँ यह स्पष्ट कर देना परम आवश्यक है कि नन्दवंश और खास कर महापद्मनन्द के सम्बन्ध में तरह तरह की कथाएँ हैं। वैसे तो मगध के क्षत्रियों को उच्च क्षत्रिय माना ही नहीं गया है ; पर इस मान्यता में सिर्फ ब्राह्मण विरोध था। अर्थात् मगध के क्षत्रिय व्रात्य थे—इस कारण ब्राह्मण मान्यता में उनके प्रति हीन दृष्टि थी ; पर महापद्मनन्द के सम्बन्ध में ऐसी ही बात नहीं थी। जैन अनुश्रुति के अनुसार वह नाई द्वारा वेश्या में उत्पन्न था। पुराण उसे शूद्रा में उत्पन्न नन्दिवर्धन का पुत्र बताते हैं। समसामयिक ग्रीक लेखक उसे नाई बताते हैं। ग्रीक लेखक के अनुसार रानी एक नाई पर अनुरक्त थी। पहले रानी की कृपा से वह राजकुमारों का अभिभावक बना और बाद में राजा को मार कर स्वयं राजा बन बैठा।

भारतीय इतिहास में क्रान्ति और प्रति-क्रान्ति

नवनन्दों का भारतीय इतिहास-क्षेत्र में आगमन बड़े महत्त्व का है। वस्तुतः वह केवल ऐतिहासिक महत्त्व की ही वस्तु नहीं, एक प्रकार की सामाजिक क्रान्ति का भी प्रतीक है। उसकी पृष्ठभूमि और कारणों की ओर ध्यान कम लोगों का गया है। केवल ब्राह्मण, केवल क्षत्रिय या ब्राह्मण-क्षत्रिय प्रधान सत्ता के बावजूद किस प्रकार शूद्र सत्ता दोनों की स्थानापन्न हो गयी, यह भारतीय इतिहास की असाधारण पहेली है। परन्तु जैसे पहेली बूझ जाने के बाद उसकी असाधारणता नितान्त सामान्य हो जाती है, उसी प्रकार शूद्र सत्ता के आविर्भाव की पृष्ठभूमि भी नन्दों के उत्कर्ष को सर्वथा स्वाभाविक बना देती है।

ब्राह्मण-क्षत्रियों के पारस्परिक चिरकालिक संघर्ष ने देश में जिस स्थिति को सम्भव कर दिया था, उसी की एकान्त प्रेरणा इस तीसरे शासक

वर्ग की उत्पत्ति थी। वह तीसरा वर्ग उपेक्षित शूद्र वर्ग था। जैन-बौद्ध और भागवत धर्मों ने जो अपने संघों और संगठनों के द्वार वर्णेतर वर्ग के लिये खोल दिये, तो हीन वर्ग निचले स्तर से ऊपर की ओर उठा और चूँकि संख्या में वह प्रचुर था, सतह पर सर्वथा छा गया। वैष्णव-भागवतों की स्थिति की ओर पाणिनि ने भी संकेत किया है। और चाहे वह वैय्याकरण बुद्ध कालीन अथवा बुद्ध का पश्चात कालीन रहा हो, वह अपने उस सूत्र में बुद्ध के पूर्ववर्ती समाज की ओर निर्देश करता है, जिसमें वासुदेव और अर्जुन के अनुयायियों की प्रचुरता है। वार्हद्रथों-ब्रह्मदत्तों-हर्यङ्कों-शैशुनागों की उत्कट क्षात्र परम्परा ने ब्राह्मणों को उसी हीन वर्ग की ओर देखने और उनसे साझा करने को मजबूर कर दिया था, जिन्हें ब्राह्मणेतर संघों और संगठनों ने प्रश्रय दिया था। यह अकारण नहीं है कि शूद्र नन्द के तीन मन्त्रियों में कम से कम दो ब्राह्मण थे। महापद्मनन्द द्वारा सारे क्षत्रिय राष्ट्रों का उन्मूलन और पारिणामतः उसका 'सर्वक्षत्रान्तक' विरुद विशेष विनियोजन की परिणति थे। और उस परिणति की पूर्व परम्परा परशुराम ने स्थापित की थी, जो निश्चय नन्द के ब्राह्मण मन्त्रियों को स्वाभाविक ग्राह्य हुई। यह असम्भव नहीं कि उन्होंने उस दिशा के नन्द-नियोजित प्रयासों को न केवल प्रोत्साहित किया हो, वरन् स्वयंम् ही नियोजित और प्रस्तुत किया हो। यद्यपि वे भी इस बात को न समझ सके थे कि हीन वर्गों का उत्कर्ष, जिसका प्रतीक नन्द शासन था, ब्राह्मण-क्षत्रिय दोनों के लिये नितान्त आपत्तिजनक हो सकता था। धर्मसूत्रों और गृह्यसूत्रों की परम्परा विनष्ट हो चली। चरित्रहीनों के प्रति सतर्क दृष्टि कम जोर पड़ गयी थी। व्यभिचारियों और चरित्रहीनों का बल बढ़ गया था। इससे समाज में एक विक्षोभ हुआ और परिणाम पुनर्गठित स्मार्त चेतना हुई, जिसका सुगठित रूप आगे चलकर शुंगों के शासन काल में खुला। हीन वर्ग के उस उत्कर्ष को, जो भारतीय आकाश पर तीव्रता से छाता जा रहा था, कौटिल्य ने सहज

ही देख लिया था। इसी कारण वह मनीषी ब्राह्मण-क्षत्रिय समझौते द्वारा उस हीनकर्मा हीन वर्ग के अपकर्ष में लगा—प्रवृत्त हुआ। यह स्वयं कुछ अकारण नहीं कि नन्द के ब्राह्मणकर्मा ब्राह्मण मन्त्री को ब्राह्मण परम्परा ने 'राक्षस' कहा हो—क्योंकि उसके द्वारा हीन व्यवस्था की स्थापना हो रही थी,—और राक्षसकर्मा चाणक्य को ब्राह्मण। जो भी हो भट्टिकाव्यम् की 'क्षात्रं द्विजत्वं च परस्परार्थम्', की पिछली परम्परा बहुत पूर्व चाणक्य-चन्द्रगुप्त के ही समय चरितार्थ हुई और उन्होंने हीनवर्गीय नन्दों को उखाड़ फेंका।

चाणक्य पाशविक दैत्य परम्परा का ब्राह्मण रूप था और इस परम्परा की शक्ति उत्तरोत्तर बल-संगठन पर ही संचित होती है। चाणक्य ने उस बल संचय पर पूरा जोर देकर भारत का पहला प्रबल पराक्रमी साम्राज्य स्थापित किया। ऐसा बल संगठन राजा को केन्द्र मानकर चलता है—मन्त्रिमण्डल की शक्ति-नश्वरता और सम्राट की निरंकुशता उसका प्राण होती है। परन्तु वही केन्द्र जब कमजोर पड़ जाता है, तब साम्राज्य के प्रान्त बिखर जाते हैं। चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार की चाणक्यानुकूल वृत्ति ने उस शक्ति को कुछ काल सम्हाल रखा, परन्तु चन्द्रगुप्त के ही अन्त्यकाल और अशोक-परवर्ती शासन में जो शास्त्र-चर्या क्षीण हुई और ब्राह्मण-क्षत्रिय परस्पर विरोध अपने स्वाभाविक रूप में फिर स्पष्ट हुआ, तब पिछला संघर्ष (द्वन्द्व) अपनी श्रृंखला की कड़ियाँ एक बार और गढ़ चला। उसी द्वन्द्व की परिणति शुंगों की सफल क्रान्ति में हुई। उसका केन्द्र मौर्यों का पुरोहित और सेनापति, भारद्वाज गोत्री ब्राह्मण पुष्यमित्र शुंग और मेधाप्रसिद्ध वैय्याकरण पतंजलि था। 'महाभाष्य' में स्थान-स्थान पर जो राजनीतिक सूक्ष्म सूत्रों के संकेत मिलते हैं, वे अन्यथा नहीं, और न यही कि वह प्रकाण्ड दार्शनिक और सूत्रकार सम्राट पुष्यमित्र शुंग के अश्वमेध का ऋत्विज था। क्रान्ति नितान्त सफल निश्चय हुई और राज्यसत्ता मौर्य-जैन-बौद्ध

क्षत्रियों के हाथ से निकल कर ब्राह्मणों के हाथ में चली गयी, जो शुंगों-कण्वों-सातवाहनों के कुल में सदियों बनी रही सही, पर स्पष्ट है कि वह सत्ता नितान्त जागरूक होकर सम्हालने की थी और हम जानते हैं कि उसी प्रकार सम्हाली भी गयी, क्योंकि पुष्यमित्र को निरन्तर सेना से सान्निध्य रखना पड़ा, जिससे उसने 'सम्राट' संज्ञा की उपेक्षा कर 'सेनापति' का विरुद अधिक श्रेयस्कर समझा।

मगध में षड्यन्त्रों का जोर और परिणाम

प्रारम्भ से ही मगध में राजतन्त्री शासनपद्धति थी। इस शासन-पद्धति में राजा के ही हाथों में सारी शक्ति केन्द्रित होती है। इसके केन्द्र में राजा होता है। हिन्दू समाज की आश्रम-व्यवस्था के अनुसार तो राजा अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य सौप कर वानप्रस्थ अथवा सन्यास ले भी सकता था—यद्यपि उसमें भी बहुत कम लोगों ने इस नियम का पालन किया। पर मगध में तो वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रति उपेक्षा अथवा हीन भाव था। अतः बिम्बिसार के समय में तो उसकी चर्चा ही व्यर्थ है। बिम्बिसार के कई पुत्र श्रमण हो गये; पर बिम्बिसार सिंहासन पर ही बना रहा। आखिर उसके एक महत्वाकांक्षी पुत्र अजातशत्रु से नहीं रहा गया। उसने षड्यन्त्र कर बिम्बिसार को कैद किया और फिर राजशासन पर अधिकार कर लिया। कैद में ही बिम्बिसार की मृत्यु हो गयी। अजातशत्रु के पुत्र उदयि ने भी उसी घाट अजातशत्रु को उतारा। उदयि की भी वही गति हुई। जैन और बौद्ध प्रभाव ने राजाश्रय पाकर सामाजिक परिवर्तन किया। फिर उसकी प्रतिक्रिया ने नन्दों के काल में व्यापक पैमाने पर षड़यन्त्र का सहारा लिया। परिणामतः शूद्र-सत्ता स्थापित हो गयी। यदि समाज के क्रमिक विकास के परिणामस्वरूप निम्न श्रेणी ऊपर आती है, तो उसमें सभ्यता और संस्कृति का योग रहता है। यदि समाजवादी क्रान्ति द्वारा निम्न श्रेणी ऊपर आती है—जिसकी उस सुदूर अतीत में सम्भावना ही नहीं थी—तो उसमें विरोधी शक्तियों, विरोधी वर्गों के विष के दाँत तोड़

दिए जाते हैं। किन्तु यदि षड़यन्त्रों द्वारा कोई अघटित घटना घट जाती है, तो उसका कुछ दूसरा ही परिणाम होता है। नन्दों के काल में यही हुआ। पर चन्द्रगुप्त मौर्य ने चाणक्य की सहायता से नन्दों का नाश कर उस सम्पूर्ण परिस्थिति को पलट दिया।

पश्चिमी भारत की राजनीतिक स्थिति

जिस समय मगध में साम्राज्य गठित हो रहा था, उस समय भारत का पश्चिमी हिस्सा छोटे छोटे चौबीस राज्यों में विभक्त और असंगठित पड़ा था। इस पश्चिमी हिस्से में ही—तक्षशिला में—एक महान विश्व-विद्यालय था। उस विश्व विद्यालय ने बड़े बड़े विद्वान् और योद्धा पैदा किये थे। पाणिनि उसी विश्वविद्यालय का था। बिम्बिसार की गणिका का पुत्र जीवक उसी विश्वविद्यालय का था, जो अपने युग का श्रेष्ठ वैद्य था। स्वयं चाणक्य भी उसी विश्वविद्यालय का था और भी बड़े बड़े योद्धा उसी विश्वविद्यालय के थे। पर जिस हिस्से में यह विश्वविद्यालय था, उसके निवासी वीर और बलवान् होकर भी राजनीतिज्ञता के अभाव में शक्तिशाली आक्रमणकारी के खाद्य बन गये। यही कारण है कि महान सेनापति सिकन्दर की सेना भारत के पच्छिमी इलाके में घुस आयी। उस समय तक्षशिला के शासक आम्भी ने भारत का दर्वाजा सिकन्दर के लिये खोल दिया। इस प्रकार देशद्रोही आम्भी की अवसरवादिता से सिकन्दर भारत में घुस आया। पुरु ने सिकन्दर का सामना किया; पर कुशल सैन्य-संचालन और राजनीतिज्ञता के अभाव में पुरु भी परास्त हो गया। परास्त पुरु की आत्मा भी गिर गयी। वह सिकन्दर का एक सरदार बन गया। उसने देश की भूमि को सिकन्दर के घोड़ों से रौंदवाना चाहा; पर उसी समय एक बहुत बड़ी दीवार सिकन्दर के सामने खड़ी हो गयी।

पुरबिया चन्द्रगुप्त मौर्य

सिकन्दर के शिविर में एक पुरबिया युवक आया। वह कुछ समझ

तक सिकन्दर के साथ रहा ; पर उस युवक की चाल-ढाल कुछ भिन्न किस्म की थी। सिकन्दर अब तक आम्भी और पुरु जैसों से तो मिल चुका था ; पर उसने अचरज से देखा—इस निराले युवक की ओर। ग्रीक लेखकों के अनुसार वह युवक अत्यन्त दृप्त था। वह नतमस्तक होकर सिकन्दर से नहीं मिला, बल्कि अपनी अँकड़ के साथ मिला। इस पुरबिया युवक की अँकड़ सिकन्दर को सह्य न हो सकी। वह इसे गिरफ्तार करने की ताक में था कि युवक उसकी नीयत ताड़ गया और ग्रीक कैम्प छोड़ कर उसके पीछे चला गया। यह युवक ही चन्द्रगुप्त मौर्य था, जिसने मगध साम्राज्य के विनाश का बीड़ा उठाया था।

चन्द्रगुप्त मौर्य मोरिय गणतन्त्र का रहने वाला था। यह गणतन्त्र गोरखपुर जिले में पड़ता है। मोरिय जाति का उल्लेख बुद्ध और महावीर के समय में भी मिलता है। महावीर के बारह गणधरों में एक मोरिय पुत्त भी थे। इससे इतना पता लगता है कि मोरिय जाति में विद्या और वीरता, शस्त्र और शास्त्र का समादर था। चन्द्रगुप्त मौर्य का नन्दों से संघर्ष कैसे हुआ, इसका ठीक-ठीक पता नहीं लगता। पर ऐसा अनुमान लगता है कि चन्द्रगुप्त पहले नन्दों की सेना में सरदार था। बुद्धि और पराक्रम से धीरे-धीरे उसकी पद-मर्यादा बढ़ती गयी। सम्भवतः वह सेनापति हो गया। आगे चलकर राजा से किसी बात पर मतभेद हो गया। वह राजा के मन का न कर सका। राजा उससे नाराज हो गया। बिना ऐसा हुए नन्द राजा से उसकी टक्कर सम्भव नहीं। और बिना ऐसा हुए नन्दों के नाश के उपयुक्त उसका होना भी सम्भव नहीं। पर चूँकि वह व्रात्य क्षत्रिय था, और नन्दों का आश्रित भी रह चुका था। नन्द हीनकुल तथा हीनचरित्र थे, इसलिए अनुश्रुति में चन्द्रगुप्त के नाम के साथ अपवाद रह गया।

महान राजनीतिज्ञ चाणक्य

चाणक्य का नाम विष्णुगुप्त था। उसका एक नाम कौटिल्य भी

था। वह अपने समय में नीतिशास्त्र का बहुत बड़ा पण्डित था। वह उस समय की भारतीय राजनीति का बहुत बड़ा ज्ञाता था। अपने धुन में मस्त वह मगध आ गया था। मगध में श्रेष्ठ विद्वानों का समादर होता था। चाणक्य भी महान विद्वान् था। सम्भवतः वह भी अपनी विद्या का समादर चाहता था। ब्राह्मण तो वह था ही, एक दिन मगध सम्राट नन्द राजा की भुक्तिशाला में जाकर संघ-ब्राह्मण के आसन पर बैठ गया। नन्द द्वारा यह जानने पर कि वह कौन है, चाणक्य ने उत्तर दिया—'यह मैं हूँ!' यद्यपि इससे चाणक्य का स्वाभिमान और तेज टपकता था; पर नन्द तो संस्कार से होन था। उसने सिपाहियों को आज्ञा दी कि इस ब्राह्मण को निकाल बाहर किया जाय। किन्तु चाणक्य भाट ब्राह्मण नहीं; तेजस्वी ब्राह्मण था। उसने अपने कमंडलु को इन्द्रकील पर पटक कर क्रोध से कहा—'राजा उद्धत हो गया है, समुद्र से घिरी हुई पृथ्वी नन्द का नाश देख ले।' नन्द ने चाणक्य को गिरफ्तार करना चाहा; पर चाणक्य तो चाणक्य था—तीव्र प्रतिभा का धनी। वह निकल गया।

चाणक्य और चन्द्रगुप्त की एकता

चाणक्य को एक ऐसे निर्भीक बहादुर और योग्य सेनापति की जरूरत थी, जो मृत्यु की उपेक्षा करके मगध साम्राज्य से टकरा सके; और चन्द्रगुप्त को एक ऐसे नीति-निपुण राजनीतिज्ञ की जरूरत थी, जो साम्राज्य की राजनीति को विफल करके प्रजा का विश्वास अर्जित कर सके। दोनों एक दूसरे के पूरक थे, इसलिए दोनों मिल गये। चाणक्य और चन्द्रगुप्त के चरित्र को देख कर ऐसा लगता है कि उस समय भारतीय मेधा और भारतीय वीरता आज की भाँति कुंठित नहीं हुई थी, जो शक्तिशाली के सामने घुटने टेक देती। उस समय भारतीय जीवन और समाज में पुरुषार्थ की महत्ता थी। ब्राह्मण चाणक्य और सेनापति चन्द्रगुप्त पुरुषार्थी थे। साधनहीन होते हुए भी दोनों धुन के पक्के थे,

दोनों को अपने उद्देश्य का भलीभाँति ज्ञान था, दोनों अपने उद्देश्य के लिए मरना जानते थे। इसलिए इतिहास बताता है कि वे सफल हुए।

राज्य पर अधिकार करने के लिए सेना की जरूरत होती है और सेना एकत्र करने के लिए धन की। कुछ धन एकत्र कर दोनों ने विन्ध्याटवी के किसी भाग से मगध साम्राज्य को ललकारा; पर टिक न सके। हार गये। इस सम्बन्ध की एक कहानी प्रसिद्ध है। एक बार चन्द्रगुप्त और चाणक्य वेष बदलकर घूम रहे थे। वे एक गाँव में एक वृद्धा के घर टिके थे। वृद्धा अपने लड़के को रोटी बना कर खिला रही थी। लड़का जरा शौकीन था। रोटी के किनारों को छोड़ कर बीच का हिस्सा खाता जा रहा था। इस पर वृद्धा ने कहा—'तू भी चन्द्रगुप्त जैसा मूर्ख है, जिसने राज लेने का प्रयत्न किया।' लड़के ने कहा—'माँ, चन्द्रगुप्त ने राज्य लेने में मूर्खता क्या की और मैं क्या कर रहा हूँ।' इस पर माता ने कहा—'चन्द्रगुप्त सम्राट बनने चला था; पर सीमा प्रदेश को दखल किये बिना, राज्य के मध्य भाग पर हमला करना शुरू कर दिया। और दोनों ओर के दबाव में पड़कर पिस गया—हार गया। और तू किनारे से रोटी न खाकर बीच का खाता है। इससे रोटी के भाप से हाथ जलेगा।' चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने इसे सुना, उनकी आँखें खुली। दोनों भारत के पश्चिमी भाग में चले गये, जो मगध साम्राज्य के बाहर था, जहाँ की स्थिति से चाणक्य पूर्ण परिचित था—जिस प्रदेश का वह रहने वाला था। जहाँ भाड़े के सैनिक आसानी से मिल सकते थे। जहाँ सिकन्दर की सेना उथल-पुथल मचाये थी। वहीं चन्द्रगुप्त सिकन्दर से मिला। उसे मगध की ओर बढ़ने के लिये ललकारा भी—पर अपने स्वाभिमान को रख कर। बाद में उसी प्रदेश में रहकर चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने सिकन्दर की सेना के पीछे विद्रोह करवाना शुरू किया। इससे सिकन्दर की उलझनें बढ़ गयीं। वह परेशान हुआ। उसकी सेना थक गयी थी।

था। वह अपने समय में नीतिशास्त्र का बहुत बड़ा पण्डित था। वह उस समय की भारतीय राजनीति का बहुत बड़ा ज्ञाता था। अपने धुन में मस्त वह मगध आ गया था। मगध में श्रेष्ठ विद्वानों का समादर होता था। चाणक्य भी महान विद्वान् था। सम्भवतः वह भी अपनी विद्या का समादर चाहता था। ब्राह्मण तो वह था ही, एक दिन मगध सम्राट नन्द राजा की भुक्तिशाला में जाकर संघ-ब्राह्मण के आसन पर बैठ गया। नन्द द्वारा यह जानने पर कि वह कौन है, चाणक्य ने उत्तर दिया—'यह मैं हूँ!' यद्यपि इससे चाणक्य का स्वाभिमान और तेज टपकता था; पर नन्द तो संस्कार से हीन था। उसने सिपाहियों को आज्ञा दी कि इस ब्राह्मण को निकाल बाहर किया जाय। किन्तु चाणक्य भाट ब्राह्मण नहीं; तेजस्वी ब्राह्मण था। उसने अपने कमंडलु को इन्द्रकील पर पटक कर क्रोध से कहा—'राजा उद्धत हो गया है, समुद्र से घिरी हुई पृथ्वी नन्द का नाश देख ले।' नन्द ने चाणक्य को गिरफ्तार करना चाहा; पर चाणक्य तो चाणक्य था—तीव्र प्रतिभा का धनी। वह निकल गया।

चाणक्य और चन्द्रगुप्त की एकता

चाणक्य को एक ऐसे निर्भीक बहादुर और योग्य सेनापति को जरूरत थी, जो मृत्यु की उपेक्षा करके मगध साम्राज्य से टकरा सके; और चन्द्रगुप्त को एक ऐसे नीति-निपुण राजनीतिज्ञ की जरूरत थी, जो साम्राज्य की राजनीति को विफल करके प्रजा का विश्वास अर्जित कर सके। दोनों एक दूसरे के पूरक थे, इसलिए दोनों मिल गये। चाणक्य और चन्द्रगुप्त के चरित्र को देख कर ऐसा लगता है कि उस समय भारतीय मेधा और भारतीय वीरता आज की भाँति कुंठित नहीं हुई थी, जो शक्तिशाली के सामने घुटने टेक देती। उस समय भारतीय जीवन और समाज में पुरुषार्थ की महत्ता थी। ब्राह्मण चाणक्य और सेनापति चन्द्रगुप्त पुरुषार्थी थे। साधनहीन होते हुए भी दोनों धुन के पक्के थे,

दोनों को अपने उद्देश्य का भलीभाँति ज्ञान था, दोनों अपने उद्देश्य के लिए मरना जानते थे। इसलिए इतिहास बताता है कि वे सफल हुए।

राज्य पर अधिकार करने के लिए सेना की जरूरत होती है और सेना एकत्र करने के लिए धन की। कुछ धन एकत्र कर दोनों ने विन्ध्याटवी के किसी भाग से मगध साम्राज्य को ललकारा ; पर टिक न सके। हार गये। इस सम्बन्ध की एक कहानी प्रसिद्ध है। एक बार चन्द्रगुप्त और चाणक्य वेष बदलकर घूम रहे थे। वे एक गाँव में एक वृद्धा के घर टिके थे। वृद्धा अपने लड़के को रोटी बना कर खिला रही थी। लड़का जरा शौकीन था। रोटी के किनारों को छोड़ कर बीच का हिस्सा खाता जा रहा था। इस पर वृद्धा ने कहा—'तू भी चन्द्रगुप्त जैसा मूर्ख है, जिसने राज लेने का प्रयत्न किया।' लड़के ने कहा—'माँ, चन्द्रगुप्त ने राज्य लेने में मूर्खता क्या की और मैं क्या कर रहा हूँ।' इस पर माता ने कहा—'चन्द्रगुप्त सम्राट बनने चला था ; पर सीमा प्रदेश को दखल किये बिना, राज्य के मध्य भाग पर हमला करना शुरू कर दिया। और दोनों ओर के दबाव में पड़कर पिस गया—हार गया। और तू किनारे से रोटी न खाकर बीच का खाता है। इससे रोटी के भाप से हाथ जलेगा।' चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने इसे सुना, उनकी आँखें खुली। दोनों भारत के पश्चिमी भाग में चले गये, जो मगध साम्राज्य के बाहर था, जहाँ को स्थिति से चाणक्य पूर्ण परिचित था—जिस प्रदेश का वह रहने वाला था। जहाँ भाड़े के सैनिक आसानी से मिल सकते थे। जहाँ सिकन्दर की सेना उथल-पुथल मचाये थी। वहीं चन्द्रगुप्त सिकन्दर से मिला। उसे मगध की ओर बढ़ने के लिये ललकारा भी—पर अपने स्वाभिमान को रख कर। बाद में उसी प्रदेश में रहकर चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने सिकन्दर की सेना के पीछे विद्रोह करवाना शुरू किया। इससे सिकन्दर की उलझनें बढ़ गयीं। वह परेशान हुआ। उसकी सेना थक गयी थी।

लाचार होकर सिकन्दर को वापस लौटना पड़ा। पर इन सारी परिस्थितियों से फायदा उठाकर चन्द्रगुप्त और चाणक्य नें उधर के राजाओं को मिला कर तथा और भी प्रयत्न कर अपनी सेना जुटाली। और उन्होंने मगध पर आक्रमण कर दिया।

राजनीतिक दाव पेंच--

मगध-सम्राट नन्द के पास सेना की कमी नहीं थी। वह उग्रसेन था ही। उसके पास हथियारों की भी कमी नहीं थी। पर चन्द्रगुप्त ने ग्रीक विजेता सिकन्दर के युद्ध-कौशल को देखा और समझा था; किन्तु यह भी कोई बड़ी बात नहीं थी। चन्द्रगुप्त के पास सब से बड़ी बात थी चाणक्य की नीति-निपुणता और नन्दों की सबसे बड़ी कमजोरी—उनका प्रजा में अप्रिय होना। मगध-सम्राट नन्द अपने ही मित्रों और कुटुम्बियों को असन्तुष्ट किये हुए थे, जिस कारण उनके घर का भेद बाहर जा सकता था। और चाणक्य के गुप्तचर उनके घर में घुसे थे। नन्द राजे संस्कार विहीन, उद्दण्ड, क्रूर और लोभी प्रसिद्ध थे। इसलिए जनता पर प्रभाव रखने वाला समुदाय—उस युग के पढ़े लिखे और जनता में प्रतिष्ठित लोग, नन्द राजाओं के विरुद्ध थे—वे सभी चन्द्रगुप्त से सहानुभूति रखते थे। इस कारण मगध साम्राज्य की सेना—नन्दों की सेना—पीछे हटती गयी और चन्द्रगुप्त मगध में घुसता चला गया। पर अब चन्द्रगुप्त का सामना नन्द राजाओं से नहीं, मगध-साम्राज्य के प्रधान मन्त्री ब्राह्मण राक्षस से भी था, जिसके बड़ों ने पतित नन्दों को सिंहासन पर बैठाया था। राक्षस अपूर्व प्रतिभावान् राजनीतिज्ञ था। राजनीति में उसके हाथ सधे थे। उसने चन्द्रगुप्त के सहायक राजाओं में फूट डलवा कर उन्हें आपस में ही लड़वा देने का प्रयत्न किया। पर चन्द्रगुप्त का सहायक चाणक्य था—अपने नीति-ज्ञान द्वारा भविष्य द्रष्टा, जिसे सम्पूर्ण सामाजिक स्थिति और राजनीति का ज्ञान था। चाणक्य ने अपनी कूटनीति-निपुणता द्वारा राक्षस की नीति को बेकार कर दिया। मगध में राक्षस ने चन्द्रगुप्त की हत्या का

षड्यन्त्र रचा ; पर चन्द्रगुप्त का कवच तो चाणक्य था। राक्षस का वार खाली गया ; किन्तु राक्षस ने विजेता चन्द्रगुप्त के सामने घुटने नहीं टेके। वह चाटुकार और अवसरसेवी, ऐसा ब्राह्मण नहीं था जो मतलब निकल जाने पर साथी को धोखा दे दिया करते हैं। उसने अपने परिवार को चन्दनदास नामक अपने एक श्रेष्ठी मित्र के यहाँ छिपा दिया और स्वयं चन्द्रगुप्त को विनष्ट करने का प्रयत्न शुरू किया। इधर चाणक्य बहुत ही दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था। वह चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य को स्थायी करके सम्पूर्ण भारतवर्ष को एक और महान करना चाहता था। उसने सिकन्दर के हमले के समय पंजाब में देखा था कि छोटे-छोटे राज्य कुछ कर नहीं सकते—छोटे-छोटे राज्यों का अस्तित्व देश के लिये खतरा है। इसीलिए वह राक्षस को मिलाकर, मगध की आन्तरिक राजनीति की ओर से निश्चिन्त होकर सम्पूर्ण भारत को एक करना चाहता था। इसीलिए उसने अपने गुप्तचरों द्वारा यह खबर फैला दी कि चूंकि चन्दनदास राक्षस का पता नहीं बता रहा है, इसलिए उसको सूली की सजा दी जायगी। राक्षस अपने मित्र की दुर्दशा को सहन नहीं कर सका। मुद्रा-राक्षस के अनुसार राक्षस ने चन्द्रगुप्त को आत्मसमर्पण कर दिया और चाणक्य ने प्रकट होकर उसे मिला लिया। पर मुद्राराक्षस नाटक की यह घटना कहां तक सत्य है, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि चन्द्रगुप्त के मन्त्रियों में किसी राक्षस का पता नही चलता। किन्तु इससे इतना संकेत मिलता है कि जिस ब्राह्मण राजनीति ने व्रात्य क्षत्रिय राज्य के विरुद्ध शूद्र राज्य की स्थापना की थी ; उसने राजनीतिज्ञ चाणक्य के ब्राह्मण-क्षत्रिय साझे की राजनीति को समझा और स्वीकार कर लिया—यद्यपि ज्यादा देर तक यह राजनीति न टिक सकी।

पराजय के चिह्न मिटाए

चन्द्रगुप्त मौर्य ने ३२१ ई० पू० में नन्दों का समूल नाशकर मगध के सिंहासन पर अधिकार किया। मगध पर अधिकार करने के बाद चन्द्रगुप्त

और चाणक्य ने पंजाब की ओर ध्यान दिया। सिकन्दर पंजाब से वापस जा चुका था ; पर उसने अपने जीते हुए राज्यों में गवर्नर रख छोड़े थे। चन्द्रगुप्त ने ग्रीक गवर्नरों को मार डाला अथवा देश से बाहर कर दिया। उसने ग्रीक विजय के सम्पूर्ण चिह्नों तक को पंजाब से मिटा दिया। चाणक्य उधर का ही रहने वाला था। वह तक्षशिला विश्वविद्यालय में आचार्य भी रह चुका था। उसके प्रयत्न से ग्रीक विजय के संस्मरण भी नष्ट हो गए। यही कारण है कि ग्रीक विजय के साहित्यिक प्रमाण भी नहीं मिलते।

महान भारत

नन्द साम्राज्य को नष्ट कर, ग्रीक विजय के सम्पूर्ण चिन्हों तक को समाप्त कर चाणक्य और चन्द्रगुप्त अपने मुख्य राजनीतिक उद्देश्य की ओर फिरे। वह मुख्य राजनीतिक उद्देश्य था सम्पूर्ण भारतवर्ष को एक सबल राष्ट्र के रूप में परिणत कर देना। इसके लिये उन्होंने सम्पूर्ण भारतवर्ष का दिग्विजय किया। कुछ इतिहासकारों का कहना है कि उसने सम्पूर्ण भारत को रौंद डाला। छोटे छोटे राज्यों को जीत कर मगध साम्राज्य में मिला लिया। चन्द्रगुप्त की तलवार अभी रुकी नहीं थी कि सिकन्दर का उत्तराधिकारी सेल्यूकस ने सिकन्दर के जीते प्रदेशों को पुनः वापस लेने की गरज से भारत पर हमला किया। पर इस समय भारतवर्ष छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त और असंगठित नहीं था। सम्पूर्ण भारतीय राजनीति का सूत्र संचालक सतत जागरूक कूटनीतिज्ञ चाणक्य था। भारतीय भूमि और नीतिकी रक्षा सिंहपराक्रम चन्द्रगुप्त की तलवार करती थी। देश की पश्चिमोत्तर सीमा अच्छी तरह सुरक्षित थी। अतः चन्द्रगुप्त की सेना ने आगे बढ़कर सेल्यूकस को रोक दिया। युद्ध हुआ। पर इस बार ग्रीकों को जिस सेना से पाला पड़ा, वह पहले से एकदम भिन्न थी। चन्द्रगुप्त के अभ्यस्त लड़ाके सैनिकों ने सेल्यूकस को बुरी तरह परास्त कर दिया। सन्धि हुई। सेल्यूकस को अपने और चार प्रान्त

चन्द्रगुप्त को देने पड़े। विजयी चन्द्रगुप्त उदार था। सेल्यूकस ने अपनी पुत्री चन्द्रगुप्त को ब्याह दी। दोनों में मैत्री हो गयी। अब भारत की पश्चिमी सीमा हिन्दूकुश तक पहुँच गयी। चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की सीमा पश्चिमोत्तर में हिन्दूकुश से दक्षिण-पूर्व में बंगाल की खाड़ी, और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में मैसूर राज्य तक थी। इस प्रकार चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य के नेतृत्व में भारतवर्ष का सबसे पहला मगध में केन्द्रस्थ साम्राज्य संगठित हुआ।

कौटिलीय अर्थशास्त्र

चाणक्य तक्षशिला के पास का रहने वाला वैदिक ब्राह्मण था। पर उसका कर्मक्षेत्र मातृ-भूमि मगध था। कूटनीति में वह प्रख्यात था. वह उद्देश्य को देखने वाला था—साध्य-साधन के चक्कर से दूर। पर उसका स्वयं का जीवन साधु का जीवन था—त्याग, अपरिग्रह और संयम का प्रतीक। उसके सामने महान भारत का नक्शा था। इसीलिए वह राजनीति में आया। उसने चन्द्रगुप्त के साम्राज्य का निर्माण किया और उस साम्राज्य के लिये उसी ने व्यवस्था भी दी। उसने गर्व के साथ लिखा —"जिसने बड़े अमर्ष के साथ शास्त्र का, शस्त्र का और नन्द राजा के हाथ में गयी हुई पृथ्वी का उद्धार किया, उसी ने इस शास्त्र की रचना की।" और भी "सब शास्त्रों का अनुगम करके और प्रयोग समझ कर कौटिल्य ने नरेन्द्र के लिये यह शासन की विधि (व्यवस्था) बनायी।" इस विधि व्यवस्था का नाम है—"अर्थशास्त्र"। इसे कौटिलीय अर्थशास्त्र भी कहते हैं।

शासन का रूप

सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में मगध साम्राज्य का केन्द्र सम्राट था। सम्राट् के ही हाथ में सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रित थी। पर शासन की सुविधा के लिये चाणक्य ने मगध साम्राज्य को सात अंगों में विभक्त

कर दिया था। वे सातो अंग इस प्रकार थे—राजा, अमात्य जनपद, दुर्ग, कोष, सेना और मित्र। इन अंगों के अलावा साम्राज्य की सीमा पंच चक्रों से सम्बद्ध थी।

१. **उत्तर पथ**—इसमें कम्बोज, गान्धार, काश्मीर, अफगानिस्तान, पंजाब आदि के प्रदेश शामिल थे। इसकी राजधानी तक्षशिला थी।

२. **पश्चिमी चक्र**—इसमें काठियावाड़-गुजरात से लगाकर राजपूताना, मालवा आदि के प्रदेश शामिल थे। उज्जैन इसकी राजधानी थी।

३. **दक्षिण पथ**—विन्ध्याचल से नीचे का सारा प्रदेश। इसकी राजधानी सुवर्ण गिरि थी।

४. **कलिंग**—इसकी राजधानी तोसली थी।

५. **मध्यदेश**—इसमें बिहार, बंगाल, और उत्तर प्रदेश शामिल थे। इसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी।

चार चक्रों का शासन तो राजकुमार अथवा राजामात्य करते थे। पर पांचवें चक्र—अर्थात्—मध्यदेश का शासन स्वयं सम्राट देखते थे।

मगध साम्राज्य के पांचों चक्रों की और स्वयं सम्राट् की सहायता के लिये मन्त्रिमण्डल का काम सलाह देना तो था। पर शासक उसे मानने के लिये बाध्य नहीं थे। वस्तुतः उसको मानना न मानना सम्राट् की वैयक्तिक शक्ति पर निर्भर था। पर आम तौर से सम्राट मन्त्रिमण्डल की राय को मानते थे। मन्त्रिमण्डल के कार्य थे—१. राज्य द्वारा प्रस्तावित कामों को प्रारम्भ करना, २. जो काम प्रारम्भ हो गये हों, उनको पूरा करना, ३. जो काम पूरे हो गये हों, उनमें और भी वृद्धि करना और ४. सब कामों की पूर्ति के लिये साधन एकत्र करना।

सेना, न्याय और व्यवहार को सम्राट देखते थे। साम्राज्य के उच्च-पदस्थ पदाधिकारियों की नियुक्ति, परराष्ट्र नीति तथा गुप्तचर विभाग का संचालन और साम्राज्य भर के आय-व्यय का निरीक्षण स्वयं सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य करते थे। इस प्रकार सम्पूर्ण मगध साम्राज्य की वास्तविक शक्ति सम्राट् में केन्द्रित थी।

पाटलिपुत्र का नगरशासन

मौर्य युग में पाटलिपुत्र मगध साम्राज्य की राजधानी थी। इसके चारों ओर लकड़ी की चौड़ी प्राचीर थी। इस प्राचीर के भग्नावशेष पटना के कुमड़हार ग्राम के पास रेलवे लाइन के उस पार एक गड्ढे में मिला है। प्राचीर के पास गहरी खाई थी। इस खाई की गहराई ४५ फिट और चौड़ाई ६०० फिट थी। प्राचीरों से लगे हुए ५७० बुर्ज थे। नगर में प्रवेश करने के लिये ६४ फाटक थे।

पाटलिपुत्र नगर के शासन के लिये ६ समितियों का एक समूह था और प्रत्येक समिति में ५-५ सदस्य थे। ये समितियाँ इस प्रकार थीं :—

१. शिल्पकला समिति—इसका काम था औद्योगिक कलाओं की देख-रेख करना, उनके औजारों का सम्हाल रखना, उद्योग सामग्रियों का प्रबन्ध करना, कारीगरों के पारिश्रमिक का निर्णय करना और कलाकारों की रक्षा करना। कलाकारों (कारीगरों) की इतनी हिफाजत की जाती थी कि उनका अंग-भंग करने वाले को मृत्युदण्ड तक की सजा का विधान था।

२. वैदेशिक समिति—इसका काम था विदेशियों की गति-विधि पर नजर रखना। विदेशियों के निवास, भोजन, औषध और अन्त्येष्टि-क्रिया का भी प्रबन्ध यह समिति करती थी। मृत

विदेशियों के पास जो धन मिलता था, उसे उनके वारिसों को दे दिया जाता था।

३. **जन-गणना समिति**—इसका काम था नगर की जनता की जन्म-मृत्यु का लेखा-जोखा रखना। यह लेखा-जोखा बहुत व्यापक तौर से होता था। पेशा, जाति, वर्ण, दास, दासी, नौकर, परिवार के प्राणियों की पूरी संख्या—लड़के, लड़कियाँ स्त्री, पुरुष आदि—आमदनी और खर्च सभी की तालिका इस विभाग में प्रस्तुत रहती थी।

४. **वाणिज्य व्यवसाय समिति**—इसका काम व्यापार पर देख-रेख रखना था। एक से अधिक वस्तुओं का व्यापार करने वालों को उसी औसत से कर देना पड़ता था।

५. **वस्तु निरीक्षण समिति**—यह समिति व्यवसायियों पर सतर्क दृष्टि रखती थी। औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादकों के लिये नये और पुराने माल का मिश्रण अपराध करार दिया गया था। अनुचित लाभ लेने वालों को दण्ड भी दिया जाता था।

६. **कर समिति**—इस समिति का काम था चुंगी वसूल करना। कुछ वस्तुओं पर विक्रय कर भी लगता था। उसका वसूल करना भी इसी समिति का काम था। इससे बचने का प्रयत्न करने वाले को मृत्युदण्ड तक की सजा दी जाती थी।

इनके अलावा सार्वजनिक भोजनालय, पुलिस, जेल, मनोरंजन और नागरिकों के स्वास्थ्य पर भी ध्यान रखना इस नागरिक शासन के अन्दर था। इस प्रकार सदस्यों की नगर सभा सम्पूर्ण नगर का सम्यक प्रकारेण शासन करती थी। इतिहास के विद्वानों का मत है कि जिस प्रकार का नगर शासन पाटलिपुत्र में था, उसी प्रकार का शासन देश के और भी अन्य महत्त्वपूर्ण नगरों में रहा होगा।

सेना का संगठन

चन्द्रगुप्त मौर्य ने 'सर्वक्षत्रान्तक' और 'उग्रसेन' नन्दों का नाश किया था, जिसका कोष अनन्त था और जिसकी सैनिक शक्ति अपार थी ; उसने पंजाब से ग्रीक विजेता सिकन्दर के आक्रमण-चिन्हों तक को निःशेष कर दिया था ; सेल्यूकस को परास्त किया था ; और सम्पूर्ण भारत को जीतकर भारतभूमि में प्रबल पराक्रमी साम्राज्य कायम किया था। राजनीतिक दृष्टि से उसके सभी कार्य एक से एक बढ़ कर थे। पर इसी लिए उसकी सैनिक शक्ति प्रबल थी। महाभारत आदि ग्रन्थों तथा और भी भारतीय साहित्य में 'पदाति. हयदल, रथदल और गजदल' की चतुरंगिणी सेना का उल्लेख है। चन्द्रगुप्त मौर्य ने नौ सेना का भी बड़ा अच्छा संगठन किया था। यद्यपि सेना के सभी अंगों के सेनापति थे ; पर उसका सम्पूर्ण अधिकार सम्राट के हाथों में केन्द्रित था। चन्द्रगुप्त उस युग के श्रेष्ठ सेनापति भी थे। सैन्य संगठन के तीन उपविभाग थे १ दुर्ग और रक्षा २ अस्त्र-शस्त्र निर्माण और शस्त्रागार तथा ३ सेना। चन्द्रगुप्त मौर्य की चतुरंगिणी सेना में पदाति ६ लाख, अश्वारोही ३० हजार, हाथी ३६ हजार और रथ २४ हजार थे। इनके अलावा नौ सेना भी थी। इस विशाल सेना के प्रबन्ध के लिये युद्ध का एक स्वतन्त्र विभाग था। इसके छत्तीस सदस्य थे, जो छः-छः की समितियों में विभक्त थे। ये समितियाँ और उनके प्रबन्ध के अधिकरण निम्नलिखित थे :—

समिति सं० १ नौ सेना।
समिति सं० २ सैन्य साधन प्रस्तुत करने वाला अधिकरण।
समिति सं० ३ पदाति।
समिति सं० ४ अश्व।
समिति सं० ५ रथ।
समिति सं० ६ गज।

प्रजा की सेवा

चन्द्रगुप्त का जीवन व्यस्त, घटनाबहुल और रक्तांकित ही नहीं था। उसके जीवन में ऐश्वर्य भी था। उसने अपने निवास के लिये विशाल प्रासाद का निर्माण कराया था। वह प्रासाद एक सुविस्तृत उद्यान के बीचोबीच खड़ा था। उसके स्तम्भ सुनहरे थे और उद्यान में कृत्रिम मत्स्य-ह्रद तथा निभृत कुञ्ज थे। उसकी विस्मयजनक विभूति के सामने शूषा और एकबताना के ईरानी महलों का सौन्दर्य भी फीका पड़ जाता था। प्रायः काष्ठ का बना होने के कारण प्रकृति के संहारक कारणों से वह तो नष्ट हो गया; पर पटना के पास कुमडहार गाँव में उसके आधार के भग्नावशेष अब भी हैं। चन्द्रगुप्त के राजदरबार के पत्थर के गोल और चिकने खम्भे वहाँ मिले हैं।

चन्द्रगुप्त ने लगभग चौबीस वर्ष राज्य किया। उसका राज्य बहुत संगठित और सुव्यस्थित था। साम्राज्य के विभिन्न केन्द्रों और नगरों को मिलाने के लिये सड़कें बनी हुई थीं। सड़कों के किनारे वृक्ष लगे थे। स्थान स्थान पर पान्थशालाएँ थीं। सिंचाई के लिये नहरें बनीं थीं। बहुत से चिकित्सालय थे, जहाँ मुफ्त औषधियाँ मिलती थीं—सभी स्थानों पर वैद्यों का प्रबन्ध था। नगरों की सफाई और भोजन की शुद्धता पर विशेष ध्यान दिया जाता था। शिक्षा का भी प्रबन्ध था और शिक्षकों की वृत्ति बँधी थी। सुराष्ट्र में सुदर्शन झील चन्द्रगुप्त के प्रान्तीय गवर्नर पुष्पगुप्त ने बनवाया था।

सिंह पराक्रम चन्द्रगुप्त का अन्तिम जीवन

महान पराक्रमी चन्द्रगुप्त, जिसके जीवन का प्रारम्भ एक सैनिक से हुआ था और जिसने एक बहुत बड़े साम्राज्य को धराशायी किया तथा जिसने स्वयं एक बहुत बड़े साम्राज्य का निर्माण किया; जिसका वाह्य जीवन बहुत ही व्यस्त और सख्त था; पर उसका अन्तर कुछ और था! जीवन के अन्तिम प्रहर में वह अन्तर्मुख हो गया। जिसने तलवार से

भारतवर्ष की सीमा खींची थी, जो खून की नदी में तैरता था, जिसने जीवन में सभी सुख-ऐश्वर्य का भोग किया, वह अन्त में अहिंसक हो गया। उसके चारो ओर बुद्ध और महावीर की अहिंसा का वातावरण था। उसके जन्मस्थान मोरिय गणतन्त्र में महावीर की शिक्षा प्रतिष्ठित हो चुकी थी। शायद किशोरावस्था में उसके मन पर जैन धर्म का प्रभाव पड़ा था। कहा जाता है कि उसके राज्यकाल में मगध में घोर अकाल पड़ा—शायद उसे रोकने के प्रयत्न में वह असफल रहा। इसके बाद वह जैनाचार्य भद्रबाहु के साथ मैसूर की ओर चला गया, जहाँ उसने अनशन करके शरीर का त्याग किया। इतिहासकार चाहे इस पर दो राय रखें, पर यह मृत्यु निश्चय ही महावीर चन्द्रगुप्त के अनुकूल थी। जवानी में मृत्यु से आँख मिचौनी का खेल खेला; मृत्यु को सदा सहचरी समझा, उसने अन्त में मृत्यु को अपने निकट बैठाकर, प्रसन्नता पूर्वक उस अनुपम सुन्दरी को तृप्त किया।

बिन्दुसार

चन्द्रगुप्त के बाद उसका पुत्र बिन्दुसार २९७ ई० पू० में मगध साम्राज्य के सिंहासन पर बैठा। चन्द्रगुप्त के बाद भी चाणक्य जीवित था और कुछ काल तक उसीने बिन्दुसार के साम्राज्य का नीति-संचालन किया। बिन्दुसार की राजनीति भी चाणक्य के सिद्धान्तों पर आधारित थी। उसने दक्षिणापथ के उन राज्यों को जीतकर मगध साम्राज्य में मिलाया, जो चन्द्रगुप्त के अभियान में बच गये थे। पर फिर भी उसने चन्द्रगुप्त जैसा कोई महान कार्य नहीं किया। उसके काल में भारतीय साम्राज्य की नींव और भी गहरी हो गयी।

विजेता अशोक

बिन्दुसार की मृत्यु के बाद कुछ समय तक मगध साम्राज्य में अव्यवस्था थी। उसके दो पुत्रों—सुषीम और अशोक में साम्राज्य के

लिये संघर्ष हुआ ; पर सुषीम बड़ा होकर भी लोकप्रिय नहीं था। साम्राज्य के मन्त्रियों का भी समर्थन उसे प्राप्त नहीं था। इस कारण उसका अन्त कैसे हुआ, इसका वृत्तान्त भी शेष नहीं रहा। अशोक ने २७२ ई० पू० में मगध साम्राज्य पर अधिकार किया और साम्राज्य की अव्यवस्थाओं को शान्तकर २६८ ई० पू० में अपना राज्याभिषेक करवाया।

अशोक असाधारण प्रतिभा का असाधारण सम्राट् था। उस जैसा राजा संसार में न कभी पहले हुआ था और न उसके बाद में। ऐसा लगता है कि प्रकृति ने अशोक को ढालकर साँचा तोड़ दिया। अशोक में उसके पितामह चन्द्रगुप्त के यौवन की वीरता और उसके वार्द्धक्य की विरक्ति दोनों थी। दोनों का विकसित रूप था। चन्द्रगुप्त ने अपने पराक्रम से मगध साम्राज्य कायम किया था। अशोक ने अपने पराक्रम और चरित्र से सुषीम को लांघ कर मगध साम्राज्य को प्राप्त किया। आठ वर्ष तक उसने अपने विरोधियों को समाप्त किया। विरोधियों से निपट कर उसने अपनी क्षात्र परम्परा की ओर ध्यान दिया। वह परम्परा थी दिग्विजय की परम्परा।

कलिंग कभी मगध साम्राज्य के अन्दर था; पर देखते ही देखते वह स्वतन्त्र हो गया। सम्भवतः कलिंग उस समय स्वतन्त्र हुआ जब अशोक अपनी आन्तरिक राजनीति में व्यस्त था। इसीलिए उधर से छुट्टी पा कर उसने कलिंग की ओर ध्यान दिया। अशोक ने कलिंग पर आक्रमण कर दिया। कलिंग की भी सैन्य-शक्ति प्रबल थी। उनमें असाधारण स्वदेश प्रेम था। उन्होंने मगध से डट कर मोर्चा लिया। भीषण युद्ध हुआ। कलिंग फिर भी न झुका। सम्राट अशोक कुपित हो उठा। संग्राम और भी भीषण हुआ। लाशों से धरती पट गयी। डेढ़ लाख सैनिक पकड़े गये, एक लाख मारे गये और इससे कहीं ज्यादा युद्ध से उत्पन्न रोगों के शिकार हुए। करीब करीब सारा कलिंग सम्राट् अशोक की तलवार के नीचे आ गया।

महान् अशोक

अशोक विजयी हुआ; पर खून में नहाकर। उसके चारो ओर वेदना, चीत्कार, बुभुक्षा और हा-हाकार था। कलिंग ने अपनी स्वाधीनता के लिये अपना सब कुछ होम दिया था। इतना बड़ा त्याग बेकार न गया। उसने महान अशोक के सुसंस्कृत मानस में करुणा का रूप लिया। क्रूर-कर्मा अशोक का मानव-हृदय करुणा से अभिभूत हो गया। उसका अन्तरतम अपने कृत्य की दारुणता से हिल गया। दिग्विजयी अशोक सहसा बदल गया। उसने अपनी दृढ़ मुट्ठी से तलवार को अलग कर दिया और रक्त-सिक्त बाहुओं को उठाकर प्रतिज्ञा की—'अब से वह युद्ध द्वारा विजय न करेगा, वह प्रेम द्वारा दिग्वजय करेगा, धर्म विजय करेगा।' इस प्रकार अशोक का भेरी-घोष, धर्म-घोप में बदल गया। हिंसा का स्थान प्रेम, भ्रातृभाव और प्राणिमात्र की सेवा ने लिया। बौद्ध अनुश्रुतियों का कथन है कि अशोक सुषीम-पुत्र निग्रोध के कारण बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुआ और उपगुप्त द्वारा दीक्षित। परन्तु जिस घटना ने वस्तुतः उसको बदल दिया, वह कलिंग-युद्ध था।

अशोक ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया; पर वह सम्प्रदायिक बौद्ध कभी नहीं था। अशोक का धर्म था—संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता, दृढ़भक्ति, अन्तर और बाहर की सफाई, साधुता, दया, दान, सत्य; माता-पिता, गुरु और बड़े बूढ़ों के प्रति सेवा और श्रद्धा; ब्राह्मणों, श्रमणों, बन्धु-बान्धवों, दुखियों आदि के प्रति दान और उचित आदर। अशोक न केवल साम्प्रदायिकता से ऊपर था, बल्कि प्रारम्भ में तो उसने साम्प्रदायिकता को कम करने का प्रयत्न भी किया। उस काल में समाज में कलह के मुख्य कारण साम्प्रदायिक होते थे; इसलिए अशोक ने अपनी प्रजा में सहिष्णुता का उपदेश किया। स्वयं तो वह सारे धर्मों का आदर करता ही था, उसने अपनी प्रजा से भी वैसा ही आचरण कराना चाहा। इसीलिए उसने अपने शिला-लेख में खुदवाया कि सारे धर्मों के

सारभूत तत्वों की वृद्धि से बढ़कर अन्य कोई दान नहीं है। सभी सम्प्रदायों का आदर करना चाहिए। बहुश्रुतता बहुत बड़ा गुण है। आदमी में जब बहुश्रुतता होगी तो वह दूसरों का आदर कर सकेगा। इसीलिए उसने बहुश्रुतता पर जोर दिया। स्वयं अशोक ने सारे सम्प्रदायों का आदर किया। आंजीविकों के लिए दरी-गृह खुदवाए, ब्राह्मणों, श्रमणों, निर्ग्रन्थों आदि सभी के साथ—समान और श्रद्धापूर्ण आचरण किया। उसने कहा कि चूँकि सारे धर्म संयम और चित्तशुद्धि पर जोर देते हैं, इसलिए सभी में सद्भावना होनी चाहिए। पर फिर भी वह बौद्ध था। उसका विशेष झुकाव बौद्ध धर्म की ओर ही था।

अशोक के धार्मिक कार्य

अशोक दृढ़ चरित्र और महावीर था। धर्म विजय में भी उसकी नीति में वीरता थी। उस काल में धर्म के नाम पर नाना प्रकार की रूढ़ियों का प्रचलन था। समाज में सनातन ब्राह्मण धर्म का जोर था। यज्ञों और पूजाओं में पशुबलि दी जाती थी। अशोक को प्राणिवध अनुचित और अधर्म मालूम हुआ। उसने दृढ़तापूर्वक सारे यज्ञानुष्ठानों में प्राणिवध को अपनी आज्ञा द्वारा रोक दिया। आज के इस प्रगतिशील युग में हिन्दूकोडबिल के सम्बन्ध में वर्षों से बहस हो रही है। पर अशोक कायर नीतिज्ञों की भांति बहसी नहीं था, बलाबल देखकर चलता था। जिसे सही समझता था, उस पर स्वयं भी चलता था और अपनी प्रजा को भी चलाता था। उसने धर्म की दिशा में ब्राह्मण धर्म की ही अनुचित बातों का विरोध नहीं किया। बौद्धधर्म के दोषों का भी दृढ़तापूर्वक विरोध किया। उसने बौद्धधर्म की तीसरी संगीति बुलाई। बौद्धधर्म के निश्चित रूप को निर्धारित कराया। और बौद्ध संघ में जो ढोंगी-पाखण्डी भिक्षु घुस गये थे, पीलावस्त्र पहनकर जो मजे में हलुआ पूड़ी उड़ा रहे थे, कहा जाता है कि ऐसे साठ हजार भिक्षुओं का वस्त्र छीनकर उन्हें संघ से निकलवा दिया। युद्ध में हथियारों से लैस

शत्रु से लड़ने में जैसी वीरता आवश्यक है, धार्मिक सुधार में उससे ज्यादा वीरता की जरूरत पड़ती है।

अशोक महावीर था, उसका साम्राज्य सुविस्तृत था, उसका चित्त साधु था और उसका हृदय भी विशाल था। उसके हृदय में मानव मात्र के लिये ही नहीं, प्राणिमात्र के लिये करुणा थी। उसने मनुष्यों का ही नहीं पशुओं का भी ध्यान रखा। मनुष्य की चिकित्सा तो किसी न किसी रूप में होती आई थी। परन्तु पशुओं की चिकित्सा पर उससे पहले किसी ने ध्यान नहीं दिया था। अशोक की उदारता मनुष्य जगत को लांघ कर, मूक पशुजगत में भी चली गयी। उसने देश-विदेश में जो औषधालय खोले, उसमें मूक और रुग्ण पशुओं का भी प्रबन्ध किया। अपने ही साम्राज्य में नहीं, उसके बाहर दक्षिण के स्वतन्त्र राज्यों और यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका के ग्रीक राज्यों में सर्वत्र उसने मानव और पशु चिकित्सा की योजना की। जहां जहाँ चिकित्सा सम्बन्धी औषधियाँ न थीं, वहाँ अन्य स्थानों से जड़ी बूटी के बीज और कलम मंगाकर लगाए गए। चोल, पाण्ड्य, सतियपुत्र और केरलपुत्र (सम्भवतः सिंहल भी), सीरिया का अंतियोक (अन्तियोकस् द्वितीय महान २६१-४७ ई० पू०), मिस्र का तुरमाया (तालेमी द्वितीय फ़ाइलाडेल्फ़स् २८५-४६ ई० पू०), मकदूनिया का अंतेकिन (ऐन्तिगोनस् गोनेतस् २७८-३९ ई० पू०), साइरिन का मग (मेगस् ३००-२५८ ई० पू०) और एपिरस का अलिकसुदरों (अलेग्ज़ैन्डर २७२-५८ ई० पू०) आदि द्वारा अन्य देशों में अशोक ने मनुष्यों और पशुओं के रोग-मोचन का प्रयत्न किया।

बौद्ध धर्म की तीसरी संगीति

बौद्धों की संगीति एक प्रकार की बौद्धसंघ की असाधारण बैठक थी, जो बहुत महत्व के निर्णयों के लिये हुआ करती थी। बुद्ध के निर्वाण से अशोक के पहले तक केवल दो बार संगीति बुलाई गयी थी। अशोक के समय तक बौद्धधर्म में अनेक सम्प्रदाय और मतमतान्तर बन गये थे,

जिसमें परस्पर झगड़े होते रहते थे। इन्हीं झगड़ों को मिटाने के लिये अपने अभिषेक के सत्रहवें वर्ष में अशोक ने पाटलिपुत्र में तीसरी संगीति बुलाई। इसके अध्यक्ष मोग्गलिपुत्त तिस्स थे। संगीति की इस बैठक का बौद्ध धर्म के इतिहास से और भारतवर्ष के इतिहास से बहुत घना सम्बन्ध है। इसी संगीति में विदेशों के लिये कुछ धर्म-दूत मनोनीत किए गए। काश्मीर, गन्धार, हिमालय के देश, महिषमण्डल, सुवर्ण भूमि, महाराष्ट्र, यवन-देश और लंका आदि को क्रमशः मज्झान्तिक, मज्झिम, महादेव, सोन, उत्तर, महाधर्मरक्षित, महारक्षित और महेन्द्र भेजे गए। इन प्रचारकों ने इन विविध देशों में बौद्धधर्म का प्रचार किया। इस प्रकार इन सभी विदेशों से भारत का घना सम्बन्ध हुआ—बौद्धधर्म विश्व व्यापक धर्म बना।

अशोक ने धर्म प्रचार के लिये अपनी शासन-व्यवस्था में भी परिवर्तन किया। मौर्य शासन बहुत कठोर था। उसकी रचना धर्म-प्रचार के लिये नहीं, साम्राज्य विस्तार के लिये हुई थी। इसलिये अशोक ने अपने धर्म प्रचार के अनुकूल उसे कोमल किया। धर्म महामात्र की नई नियुक्ति की। राज्याधिकारियों द्वारा भी धार्मिक कार्यों को प्रोत्साहित कराने का काम लिया।

अशोक की कलाप्रियता

अशोक महान निर्माता भी था। राज-प्रासाद, स्तूप और दरीगृह, वास्तु और भास्कर्य के अप्रतिम प्रतीक, हृद और क्षेत्र-प्रणालिकाएँ, कूप और तरुसेवित राजपथ, विश्रामशालाएं और आम्रवाटिकाओं का उसने व्यापक पैमाने पर निर्माण करवाया। अनुश्रुतियों के अनुसार उसी ने कश्मीर के श्रीनगर और नैपाल के ललितपाटन का निर्माण करवाया था। उसने अपने पितामह चन्द्रगुप्त के बनवाये राज-प्रसाद में बहुत परिवर्तन करवाया था। ये परिवर्तन भी इतने महान थे कि पाचवीं सदी के प्रारम्भ का चीनी यात्री उसे देखकर दंग रह गया। उसने लिखा:—

"राज-प्रासाद और भवन नगर के बीचो बीच कल की ही भाँति आज भी खड़े हैं। उनका निर्माण अशोक के द्वारा प्रयुक्त देवो ने किया था, जिन्होंने पत्थर के ऊपर पत्थर रखे, दीवारें और द्वार खड़े किये, उत्खचन और तक्षण कार्य सम्पादित किये, जो इस धरती पर मनुष्य नहीं कर सकते।" यही नहीं सम्राट् अशोक के सबसे महत्वपूर्ण निर्माण कार्यों में प्रस्तर स्तम्भ और अभिलेख हैं। इन स्तम्भों की कला अप्रतिम है और इनका आश्चर्य जनक 'फ़िनिश' भारतीय वास्तु का गौरव। ये स्तम्भ ऊँचाई में प्रायः पचास फीट और वजन में प्रायः पचास टन के हैं। पर ये सभी एक ही पत्थर के हैं और चुनार में बनाकर बाहर ले जाए गये हैं। ये मोम बत्ती की भांति नीचे मोटे ऊपर पतले और निष्कलंक हैं। इनके दो भाग हैं, नीचे का दण्ड और ऊपर का मस्तक। मस्तक के भाग हैं—नीचे घंटानुमा आकृति अथवा अधोमुख कमल, बीच का ड्रम और ऊपर की कोरी पशुमूर्ति। ड्रम के ऊपर अनेक पशु और चक्रादि की आकृतियाँ बनी होती हैं, ऊपर सिंह, वृषभ, अश्व तथा गज आदि में से कोई एक है। सारनाथ के स्तम्भ पर चार सिंह बने हुए हैं। इन पशुओं की शिराएँ साफ निकली हुई और सजीव हैं। इन पर ऐसी चमकीली पालिश है कि ये स्तम्भ धातु के बने मालूम होते हैं। यह पालिश मौर्य कालीन है, जो अशोक के बाद सदैव के लिये उठ गयी। मौर्य काल में भारत का ईरान आदि देशों से घना मैत्री सम्बन्ध था; आपस में आदान-प्रदान था। इस आदान-प्रदान का प्रभाव इन कलाओं पर भी पड़ा है। अशोक के पहले अभिलेखों की प्रथा भरत में नहीं थी। पर ईरान में स्तम्भों और चट्टानों पर प्रशस्तियाँ तथा घोषणाएँ खुदती थीं। देवानांप्रिय अशोक का अपने लिए सम्बोधन भी ईरानी अनुकरण पर है। सम्राट् अशोक महान उदार थे। उन्होंने जो भी अच्छी वस्तु जहाँ से मिली, उसे अपना लिया। इसी कारण वे सरलता से इस ईरानी कला को स्वीकार कर सके।

साम्प्रदायिक दृष्टि से उदार होते हुए भी अशोक बौद्ध थे। साम्प्रदा-

यिक पक्षपात से बचने के सतत प्रयत्न के बावजूद भी बौद्धधर्म के प्रति उनका ज्यादा झुकाव था। इसलिए अन्य सम्प्रदायों में उनकी आलोचाना भी हुई। बौद्धधर्म को बराबर दान देते रहने में उन्होंने कोष की ओर भी ध्यान न दिया। इसी कारण उनकी दानवृत्ति पर प्रधान मन्त्री राधागुप्त को नियन्त्रण रखना पड़ा। इस कारण सम्राट अशोक बहुत दुखी हुए। इसी दुख में उन्होंने शरीर छोड़ दिया।

अशोक की नीति की आलोचना—

मौर्य साम्राज्य शक्ति से अर्जित था। उसे चन्द्रगुप्त की भुजाओं ने और नीति-निष्णात चाणक्य की मेधा ने खड़ा किया था। बिन्दुसार को भी युद्धों से कम ही फुर्सत मिली थी। अनेक जनपदों और संघ-राज्यों को तोड़ कर उसने मगध साम्राज्य में मिलाया था। पर उस समय भारतीय जीवन में स्वाभिमान और शान की मात्रा भी भरपूर थी। कलिंग कुछ समय तक तो मगध साम्राज्य में था। किन्तु बिन्दुसार की मृत्यु से अशोक के राज्याभिषेक की अल्प अवधि में ही मौका मिलते ही उसने मगध साम्राज्य का जुआ अपने कन्धे से उतार फैंका। बाद में उसे मगध साम्राज्य में मिलाने के लिये सम्राट् अशोक को विकट संग्राम करना पड़ा। कलिंग ने भी अपना सब कुछ होम कर मगध साम्राज्य का सामना किया। ऐसी थी, उस समय भारतीय जीवन में स्वाधीनता की प्यास! पर सिकन्दर की ठोकरों के बाद एक साम्राज्य के अन्तर्गत देश के सभी हिस्सों को लाकर, सम्पूर्ण भारत को एक राष्ट्र करना भी परम आवश्यक था। चन्द्रगुप्त और चाणक्य की यही नीति थी। मौर्य साम्राज्य में यह पराक्रमपूर्ण प्रयत्न बिन्दुसार के समय तक चला। इसीलिए बिन्दुसार ने अपना विरुद अमित्रघात (शत्रु को मारने वाला) रखा। पर अशोक के काल में कलिंग ने मौर्यों की सैनिक नीति को अपने प्राणों की बाजी लगा कर चुनौती दी। विजेता अशोक ने भी कलिंग को कुचल दिया।

पर अशोक महान था—महान धार्मिक ही नहीं, योद्धा भी, नीतिज्ञ भी। उसने कलिंगविजय के अवसर पर समझ लिया कि अब सैनिक नीति ठीक नहीं। सम्भवतः इसलिए भी उसने मौर्यों की सैनिक नीति को क्षमा नीति में बदल दिया। और जब तक अशोक जीवित था, उसकी क्षमा नीति से साम्राज्य के पाये खिसके नहीं। इससे भी सिद्ध है कि अशोक तक क्षमा नीति बुरी नहीं थी। पर बुरा था अशोक का राष्ट्र-धर्म की सीमा तक बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लेना। यह ठीक है कि अशोक मगध के वातावरण से बाध्य थे। बिम्बिसार से लेकर अशोक तक मगध में जैन अथवा बौद्ध प्रभाव छाया था। सभी राजाओं पर एक न एक धर्म का प्रभाव था। पर यह भी सच है कि किसी ने तलवार अलग नहीं रखी थी। अजातशत्रु ने तो विजय किये थे। किसी ने राष्ट्रीय ममता और शत्रुद्वेषी भावना को शिथिल नहीं पड़ने दिया था। यही कारण था कि जैन और बौद्ध धर्म की अहिंसा के प्रभाव के रहते हुए भी मगध साम्राज्य बढ़ता गया। पर सम्राट अशोक ने तो उस समय सम्पूर्ण रूप से तलवार अलग कर दी, जब साम्राज्य का एक मात्र आधार ही दण्ड माना जाता था। सम्राट चन्द्रगुप्त ने चाहे जैन धर्म की साधना के अनुकूल अनशन करके शरीर न भी त्याग हो पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि उस पर भी जैन धर्म का प्रभाव था। पर उसने जैन धर्म को व्यक्तिगत रूप से निभाया, उसे राष्ट्रधर्म नहीं बना दिया। किन्तु सम्राट अशोक ने तो बौद्ध धर्म को राष्ट्रधर्म की सीमा तक चढ़ा दिया। साम्राज्य की एक मात्र शक्ति तलवार को अलग कर दिया। यह ठीक है कि अशोक ने अपने काल तक मगध साम्राज्य को अक्षुण्ण रखा। पर अहिंसा के कारण यह नहीं हुआ; बल्कि यह इसलिए हुआ कि अशोक चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार के बाद की कड़ी था—जीवन में युद्धविजेता और शक्ति का प्रतीक था। उसके काल तक शक्ति की धाक थी। पर उसके मरते ही मौर्य साम्राज्य के तार-तार बिखर गये।

अशोक के परवर्ती मौर्य—

अशोक की मृत्यु के बाद ही आन्ध्र मगध से अलग हो गया। अब मौर्य साम्राज्य की राजनीति दण्ड-दुर्बल थी। अब वह अशोक नहीं था, जो कलिंग की भाँति ही आन्ध्र को भी पुनः मगध में रख लेता। दण्ड से रक्षित साम्राज्य, दण्ड के अभाव में बिखरने लगा। अशोक के उत्तराधिकारी बौने और कायर ही नहीं, कमजोर भी थे। अशोक के तुरत बाद कुणाल (सुयश) के काल में ही अशोक का पुत्र जालौक कश्मीर में मगध से अलग हो गया। दशरथ (बन्धुपालित) के काल में कलिंग भी मगध से अलग हो गया। जैसे इन बौने मौर्यों के हाथों ने तलवार पकड़ना सीखा ही न हो। पूर्वजों द्वारा अर्जित सम्पत्ति में से दान देना ये जानते थे। यह आजीवक सम्प्रदाय का अनुयायी था और इसने नागार्जुनी की पहाड़ियों में आजीवकों के लिये गुहाविहार बनवाये। दशरथ के बाद सम्प्रति मगध के सिंहासन पर बैठा। यह जैन था। कहा जाता है कि इसने जैन-धर्म के लिये वही काम किये, जो अशोक ने बौद्ध धर्म के लिथे किया था। साम्प्रदायिक दृष्टि से यह सच हो भी सकता है। पर इसने मगध साम्राज्य को अपने गौरव पर आसीन नहीं कराया। अतः इसे अशोक-सा कहना अनुचित है। सैनिक दुर्बलता बढ़ती ही गई। सम्प्रति के बाद शालिशुक मौर्य सिंहासन पर आसीन हुआ। पर इन बौने मौर्यों को दायरूप में वीरता नहीं मिली थी; ढोंग मिला था। गार्गी संहिता के अनुसार शालिशुक "राष्ट्रमर्दी" (देशका पीडक) तथा "धर्मवादी ह्यधार्मिक" (धर्म की डींगे हाँकने वाला किन्तु अधर्माचारी) था। मौर्य साम्राज्य को अपने गौरवास्पद सीमा तक ले जाने के लिये, देशविजय के लिये तो इसमें वीरता और सहस बिलकुल नहीं था। पर अहिंसा प्रधान, प्रेम प्रधान, जैन धर्म के प्रचार के लिये इसने तलवार का उपयोग किया। अशोक ने राजनीति में भी जिस तलवार का उपयोग रोक दिया था, इस कायर ने उसी तलवार का

उपयोग धर्म के क्षेत्र में किया। इस सम्प्रदायवादी राजा ने धर्म और पुण्य के अर्जन में सौजन्य तथा स्नेह का प्रयोग कम और तलवार का प्रयोग अधिक किया। सौराष्ट्र, गुजरात और पश्चिमी भारत की भूमि उसने रक्त से लाल कर दी। प्रजा त्राहि त्राहि कर उठी। इसी शालिशुक के काल में सुभगसेन पश्चिमोत्तर प्रदेश (गान्धार) में मगध से अलग स्वतंत्र शासक हो गया। इसी के काल में एंटीयोकस ने गान्धार पर आक्रमण किया और सुभगसेन ने उसे आत्मसमर्पण किया। पर एंटीयोकस किसी कारण भारत की ओर न बढ़कर अपने देश सीरिया लौट गया। किन्तु उसके हल्के से आक्रमण ने संसार पर प्रकट कर दिया कि अब भारत में न तो चन्द्रगुप्त की तलवार है और न चाणक्य की मेधा। परिणामस्वरूप देश पर आक्रमण हुये। गंगा, यमुना के द्वावे तक को विदेशियों ने कुचला-रौंदा।

इस आक्रमण की धूलि को सरयू के तट पर बैठे एक वैय्याकरण की मेधा ने देखा, परखा, और वह राजनीति के क्षेत्र में उतर पड़ा। इस विदेशी आक्रमण को रोकने के लिये एक निरा तरुण सेनापति बढ़ा, लड़ा, घायल हुआ और मगध की दुर्बल नीति के कारण खून का घूंट पीकर रह गया। पर आगे के भारत की कहानी, इसी सेनापति की कहानी है, जिसका नाम पुष्यमित्र शुंग था। पुष्यमित्र शुंग ब्राह्मण था। अष्टाध्यायी के रचयिता प्रसिद्ध वैय्याकरण पाणिनि, शुंगों को भारद्वाज गोत्र का ब्राह्मण बताते हैं। आश्वलायन श्रौतसूत्र में शुंग को आचार्य कहा गया है। पुष्यमित्र शुंग भारद्वाज गोत्र का ब्राह्मण था।

ब्राह्मण परम्परा के पुनरावर्तन के कारण—

भारत के अति प्राचीन इतिहास में भी ब्राह्मण और क्षत्रिय संघर्ष दृष्टिगोचर होता है। वशिष्ठ-विश्वामित्र, परशुराम-कार्तवीर्यार्जुन, उपनिषदों की परम्परा और आगे जैनों-बौद्धों की परम्परा। यह भी सम्भव है कि यह परम्परा और भी गहरी हो। पर यह भी सच है कि साधारण रूप से

ब्राह्मणों में त्याग, तप और संयम को ज्यादा महत्त्व दिया जाता रहा है। त्याग-तप से हीन ब्राह्मण को हीन दृष्टि से देखा जाता रहा है। यही नहीं, ब्राह्मण सामाजिक परम्पराओं का, समाज के हित और सुख का सदैव से संरक्षक भी माना जाता रहा है। उसने समय समय पर अपने को समाज का संरक्षक सिद्ध भी किया है। इसीलिए वह परम्परा का पोषक और रूढ़िवादी भी रहा है। परशुराम सर्वक्षत्रान्तक हुए, उन्होंने हैहयों का विरोध किया ; पर त्याग और तप को नहीं छोड़ा। ब्राह्मणों की सामाजिक परम्परा का संरक्षक होने की प्रेरणा वेदों से मिली और वेदों ने संन्यास को आदर्श नहीं माना—क्योंकि वेद समाज को गृहस्थ के जीवन में मानते थे। पर गृहस्थ जीवन को ब्राह्मणों ने संयम में बाँधा। यही कारण है कि उपनिषदों का आन्दोलन ब्राह्मण कर्मकाण्ड के विरोध में होकर भी वेदों से बाहर नहीं जा सका।

श्रमण परम्परा की कमजोरी—

जैन धर्म बहुत पुराना धर्म था। वह वेद विरोधी भी था। पर उसमें तपस्या पर ज्यादा जोर दिया गया था। महावीर ने उसमें कुछ संस्कार किया। पर फिर भी तपस्या को और ब्रह्मचर्य को विशेष महत्त्व दिया। बुद्ध का बौद्ध धर्म नया था। उसकी पुरानी परम्परा भी नहीं थी। वह मध्यम मार्ग भी था। उसमें उतना तप पर जोर भी नहीं दिया गया था। इसके अलावा बौद्ध और जैन दोनों धर्मों ने जन आन्दोलन का रूप भी धारण कर लिया। बौद्धों और जैनों दोनों धर्मों के नेता यद्यपि संस्कार-सम्पन्न और कुलीन थे। पर दोनों का बल उनका संघ-बल था और दोनों संघों में शूद्रों तथा दासों की संख्या कम न थी। इन शूद्रों और दासों ने आध्यात्मिक भावना से ही जैन और बौद्ध संघों में प्रवेश नहीं किया था। गुलामी, दासता और सांसारिक कष्टों से बचने के लिये संघ में प्रवेश किया था। क्योंकि भिक्षु हो जाने के बाद दासता और कर्जे से मुक्ति मिल जाती थी। स्व०, म० म० पं० हरप्रसाद शास्त्री ने

लिखा है कि स्त्रियाँ भी गुलामी की मार से बचने के लिये भिक्षुणियाँ हो जाती थीं। बुद्ध के जीवन काल में ही बौद्ध संघों में व्यभिचार के अड्डे बन गये थे। इस कारण बुद्ध बड़े दुखी भी थे। अशोक ने तो स्वार्थियों और बदमाश भिक्षुओं को संघ से निकाल कर बौद्ध संघ का संस्कार भी किया था। इससे यह स्पष्ट होता है कि बौद्ध और जैन धर्मों को उनका संघ बल भी प्रभावित करता था। और इन संघों में हीन-संस्कार के लोग घुसे थे, जो अपने हीन-संस्कार का प्रभाव डालते रहते थे। इस कारण समाज में आचरण की ओर तो शिथिलता थी और शब्दों में त्याग, तपस्या तथा ब्रह्मचर्य का बोलबाला था। असलीयत तो बहुत कम थी; पर ढोंग का बाजार गरम था। चरित्र में ओछापन, किन्तु वचन में तेजी थी। अशोक के बाद कोई ऐसा मौर्य नहीं पैदा हुआ, जो कुसंस्कार को शुभ संस्कार में बदल सकता, जो असंयम को संयम में बदल सकता, जो धार्मिक ढोंग को हटाकर जीवन में पौरुष की प्रतिष्ठा कर सकता।

पुष्यमित्र का आविर्भाव—

जिन बौद्धों और जैनों का कर्तव्य था ब्राह्मण ढोंग और कमजोरियों से समाज की रक्षा करना, वही ढोंगी और कमजोर हो गए थे। बौद्धों और जैनों के ढोंग से प्रजा परेशान थी। इसके अलावा विदेशियों के हमले और बौद्धों तथा जैनों द्वारा विदेशियों के समर्थन ने तो और भी गजब ढाया। ब्राह्मणों को मौका मिला। उन्होंने पतंजलि के नेतृत्व में बौद्धों और जैनों का विरोध करना शुरू कर दिया। शासन सत्ता पर बृहद्रथ नामक बौद्ध राजा बैठा था। इसलिए ब्राह्मणों के विरोध ने राजनीतिक रूप धारण किया। साधारण ग्रहस्थों पर ब्राह्मणों का प्रभाव सदैव से था। अतः ब्राह्मणों के बौद्ध-जैन विरोध ने सामाजिक रूप धारण करना शुरू कर दिया। इसीलिए प्रजारक्षण की प्रतिज्ञा में दुर्बल, अन्तिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ को उसी की सेना के सामने सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने खुले खजाने सूर्य के चमकते प्रकाश में बाण से मार कर

राज्यशक्ति पर अधिकार कर लिया। निश्चय ही पुष्यमित्र ने यह सब एकाएक नहीं कर लिया होगा। निश्चय ही इसके पीछे कुछ सोच विचार और षड़यन्त्र भी रहा होगा। बहुत सम्भव है कि इस षड़यन्त्र के केन्द्र में स्वयं पतंजलि रहे हों, जिस प्रकार नन्दों के नाश में चाणक्य। पर सेना और प्रजा का इस राज-हत्या को चुपचाप सह जाना क्या यह भी सिद्ध नहीं करता है कि प्रजा कायर और ढोंगी मौर्य शासन से मुक्ति चाहती थी?

मगध में श्रमण-ब्राह्मण घात-प्रतिघात

पार्श्वनाथ से पूर्व, अर्थात् ई० पू० ८०० से पहले ही मगध में श्रमण-संस्कृति का विकास हुआ था। महावीर पार्श्वनाथ की परम्परा में ही हुए। बुद्ध भी श्रमण संस्कृति के ही विकसित सुमन थे। बुद्ध और महावीर दोनों का विकास मगध में ही हुआ था। मगध साम्राज्य का उदय बिम्बिसार से प्रारम्भ हुआ। कुछ लोग उसे जैन कहते हैं; पर वह बुद्ध के प्रति भी श्रद्धा रखता था। बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु ने मगध साम्राज्य को पल्लवित किया। वह बौद्ध था। सम्भवतः नन्द जैन था। पर उसका मन्त्री जिसे 'मुद्राराक्षस' के रचयिता ने 'राक्षस' कहा है, ब्राह्मण था। बहुत सम्भव है इस ब्राह्मण मन्त्री ने खूब समझ-बूझकर नन्दों को नीति को सर्वक्षत्रान्तक बनाया—शूद्र द्वारा वेद विरोधी क्षत्रियों का नाश करवाया; पर शायद अपनी नीति में वह सीमा का अतिक्रमण कर गया। सम्भवतः इसीलिए एक और ब्राह्मण राजनीतिज्ञ सामने आया। उसने क्षत्रिय को गोद में उठा लिया। प्रसिद्ध है चाणक्य चन्द्रगुप्त को गोद में लेकर आया। उसने सर्वक्षत्रान्तक शूद्र नन्दों का नाश करके मगध में मौर्य साम्राज्य की स्थापना की। चाणक्य ने शूद्र सर्वक्षत्रान्तक और वेद निन्दक नन्दों का नाश तो किया, पर जैनों और बौद्धों के विरुद्ध उसने कुछ न कहा, कुछ न किया। बहुत सम्भव है उस समय जैन और बौद्ध धर्म सामाजिक दृष्टि से पतित नहीं हुए थे। इसीलिए ब्राह्मण चाणक्य ने चुपचाप सह

लिया। मगध में श्रमण परम्परा के अनुकूल वातावरण था। उसका प्रभाव सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य पर भी पड़ा ; पर अपने जीवन काल में चाणक्य ने जैन और बौद्ध धर्म को राष्ट्रधर्म का रूप न लेने दिया। चाणक्य की मृत्यु के बाद अशोक अभिषिक्त हुआ। अशोक पर बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ा। अशोक ने बौद्धधर्म को राष्ट्रधर्म की सीमा तक चढ़ाया। यद्यपि अशोक के मंत्रियों को अशोक का यह धर्म न रुचा ; पर उनमें कोई चाणक्य जैसा नहीं था, इसलिए अशोक को जब रोकना चाहिए तब नहीं रोक सके। यह सच है कि अशोक ने अपने काल तक मगध को सम्हाला ; पर बाद में ऊँचे व्यक्तित्व के अभाव में, सैन्य-संचालन-प्रक्रिया से रहित होकर, अहिंसा के ढोंग में बहकर मगध का मौर्य साम्राज्य सदा के लिए नष्ट हो गया।

दुर्बल और ढोंगी मौर्यों का उच्छेता ब्राह्मण ही था। नन्दों का उच्छेता चाणक्य भी ब्राह्मण था, पर वह गोद में एक क्षत्रिय को लेकर आया और उस क्षत्रिय चन्द्रगुप्त को अभिषिक्त किया; किन्तु मौर्यों का उच्छेता पतञ्जलि अपनी गोद में ब्राह्मण को लेकर आया—पुष्यमित्र को लेकर। चाणक्य ने दिग्विजय की नीति चलायी ; पर उसने अश्वमेध नहीं किया। सम्भवत: उसके काल में जैन और बौद्ध परम्परा इतनी निकम्मी नहीं हुई थी कि उसे सहज ही अलग कर दिया जाता ; पर पतञ्जलिका काल दूसरा था। उसके काल में बौद्ध जैन परम्परा ने अपने को अराष्ट्रीय तक सिद्ध कर दिया था। अतः पतञ्जलि ने अश्वमेध की परम्परा चलायी—जनमेजय के बाद ही बन्द हुई वैदिक अश्वमेध की परम्परा। और स्वयं पतञ्जलि पुष्यमित्र के अश्वमेध के ऋत्विज हुए—"इह पुष्यमित्रं याजयामः।" चाणक्य ने पंजाब से विदेशी शक्तियों के विजय-चिन्ह तक को मिटा दिया था। पतञ्जलि के काल में विदेशी शक्तियों को बौद्धों और जैनों ने सहारा दिया था। इसलिए पतञ्जलि के पुष्यमित्र ने विदेशी मिनान्डर की राजधानी साकल में पहुँच घोषणा की कि—"जो कोई मुझे

श्रमण का कटा हुआ एक मस्तक देगा, उसे मैं १०० दीनारें दूंगा।"
चाणक्य के काल में साम्प्रदायिक विद्वेष राष्ट्रीय धरतल पर नहीं था; अतः राजनीतिक चाणक्य उस ओर चुप है—यद्यपि असावधान नहीं। पर वैय्याकरण पतञ्जलि के सामने साम्प्रदायिकता का नग्न ताण्डव हो रहा था। अतः पतञ्जलि को अपने महाभाष्य में ब्राह्मण श्रमण का द्वेष शाश्वत कहना पड़ा। यही नहीं, जिन देशों में बौद्धों और जैनों का प्राधान्य था—जैसे अङ्ग, वङ्ग, कलिंग, मगध और सौराष्ट्र को पतित देश घोषित करना पड़ा। यही कारण है कि पुष्यमित्र के काल में सम्पादित मनुस्मृति में उपरोक्त देशों में तीर्थयात्रा के अलावा गमन पर प्रायश्चित का विधान है। यही नहीं, मगध में बौद्धों के तीर्थस्थानों का ब्राह्मणीकरण भी किया गया। इस प्रकार मौर्य साम्राज्य के अन्त के साथ ही साथ मगध से श्रमण संस्कृति के पैर उखड़ने लगे।

मगध की प्राचीन भाषा—

मगध की प्राचीन संस्कृति और खास कर श्रमण संस्कृति पर विचार करते समय मगध की प्राचीन भाषा और उस भाषा में निर्मित साहित्य पर विचार कर लेना भी आवश्यक है। सिंहली परम्परा के अनुसार मागधी ही वह मूल भाषा है, जिसमें भगवान बुद्ध ने अपने उपदेश दिए थे। कच्चान-व्याकरण में कहा गया है—"सा मागधी मूल भासा...सम्बुद्धा चापि भासरे" (मागधी वह मूल भाषा है जिसमें...सम्यक् सम्बुद्ध ने भी भाषण दिया।) वस्तुतः ऋग्वेद की विविधतामयी भाषा के प्रान्तशः विकसित रूप में मागधी भी आर्य भाषा परिवार में मगध की एक भाषा थी। बुद्ध ने इसी मागधी-भाषा में अपना उपदेश दिया। पार्श्वनाथ और महावीर ने भी इसी भाषा में अपना उपदेश दिया था।

बुद्ध और महावीर के उपदेश की भाषा मागधी थी, पर उस मागधी का रूप क्या था, यह बताना बड़ा कठिन है। विद्वानों का मत है कि पालि त्रिपिटक में मगध की प्राचीन भाषा का कुछ रूप है। पर वस्तुतः

त्रिपिटकों की पालि प्राचीन मगध की ठीक ठीक भाषा थी, यह नहीं कहा जा सकता। बुद्ध ने पैदल घूम-घूमकर सम्पूर्ण मध्यमण्डल में मौखिक रूप से अपना उपदेश दिया था। बुद्ध के शिष्यों में अनेक जातियों के लोग थे, अनेक स्थानों के अनेक भाषाभाषी लोग थे। और बुद्ध ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कह दिया था—"भिक्षुओ ! अपनी अपनी भाषा में बुद्ध वचन सीखने की अनुज्ञा देता हूँ।" अतः बुद्ध के उपदेशों की भाषा में अनेक बोलियों और भाषाओं का सम्मिश्रण हुआ होगा। यही नहीं, बुद्ध-निर्वाण के दो-तीन शताब्दियों में तीन बार अनेक स्थानों के भिक्षुओं ने मिलकर और सुनकर बुद्ध उपदेशों का संग्रह किया था। बुद्ध के उपदेशों का अन्तिम रूप से संकलन अशोक के काल में हुआ और वही सिंहल गया। इसलिए त्रिपिटक की पालि प्राचीन मागधी नहीं है। हाँ, उसमें प्राचीन मागधी का कुछ रूप अवश्य है।

पार्श्वनाथ और महावीर के उपदेशों का भी करीब करीब यही हाल है। आगमों की सामान्य व्याख्या में आप्त कथन को आगम कहा गया है। और जैन सम्मत आप्त कौन हैं, इसे स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि जिसने राग और द्वेष को जीत लिया, ऐसे तीर्थंकर–जिन—सर्वज्ञ भगवान आप्त हैं। अर्थात् जिनोपदेश जैनागम है। यहाँ भाषा का उल्लेख ही नहीं है। यही नहीं, सूत्र या ग्रन्थ रूप में उपस्थित गणधर प्रणीत जैनागम का प्रमाण गणधरकृत होने मात्र से नहीं है। उसके अर्थ के प्रणेता तीर्थंकर की वीतरागता और सर्वार्थसाक्षात्कारित्व के कारण है। इससे सिद्ध है कि जैन साधकों की दृष्टि भी भाषा पर नहीं थी; यद्यपि महावीर का उपदेश, अर्ध मागधी भाषा में हुआ, इसका उल्लेख है; पर सँग्रह की दृष्टि से भाषा के स्थान पर भाव पर ही विशेष जोर है। इसके अलावा महावीर ने भी पैदल घूम-घूमकर अपना धर्मोपदेश जनता को दिया। शायद इसलिए जैन अनुश्रुति में महावीर की भाषा को मागधी न कह कर 'सर्वभाषानुगामिनी अर्ध मागधी भाषा' कहा गया।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार पालि में मगध की मूल भाषा का रूप है। और जैन अनुश्रुति अर्धमागधी को मगध की भाषा के नजदीक मानती है। दोनों अनुश्रुतियाँ सत्य हो नहीं सकतीं। अतः सत्य क्या है ? जैन अनुश्रुति के अनुसार महावीर के शिष्य सुधर्म ने महावीर के उपदेशों को उसी प्रकार स्मरण कर लिया था, जिस प्रकार महावीर ने कहा था। सुधर्म के बाद जम्बुस्वामी प्रभव और स्वयंभव ने क्रम से जिन उपदेशों की रक्षा की। यह बात पूर्व नन्द और नव नन्द युग तक की हुई। इसके बाद पुनः जैन अनुश्रुति के अनुसार महावीर-निर्वाण के करीब १६० वर्ष बाद पाटलिपुत्र में जैनागमों को व्यवस्थित रूप देने के लिये जैन विद्वान् साधुओं की प्रथम वाचना हुई। इस प्रथम वाचना में एकत्रित हुए श्रमणों ने एक दूसरे से पूछ-पूछ कर ११ अङ्गों को व्यवस्थित किया। किन्तु देखा गया कि उनमें से किसी को भी संपूर्ण दृष्टिवाद का पता न था। उस समय दृष्टिवाद के ज्ञाता आचार्य भद्रबाहु थे। किन्तु उन्होंने १२ वर्ष के लिये विशेष प्रकार के योगमार्ग का अवलंबन किया था और वे नेपाल में थे। इसलिए जैन साधु संघ ने स्थूलभद्र को कई साधुओं के साथ दृष्टिवाद की वाचना के लिये भद्रबाहु के पास भेजा। स्थूलभद्र ने दश पूर्व सीखने के बाद अपनी श्रुतलब्धि ऋद्धि का प्रयोग किया। इसका पता जब भद्रबाहु को चला तब उन्होंने अध्यापन करना छोड़ दिया। स्थूलभद्र के बहुत समझाने पर राजी भी हुए तो शेष चार की अनुज्ञा नहीं दी। यही नहीं यह भी कहा कि तुमको मैं शेष चार पूर्व की सूत्र वाचना देता हूँ, किन्तु तुम इसे दूसरों को मत पढ़ाना। भद्रबाहु को चन्द्रगुप्त मौर्य का समकालीन कहा जाता है।

स्थूलभद्र को भद्रबाहु से जो कुछ प्राप्त हुआ, वह मौखिक था। स्थूलभद्र ने भी उसे मौखिक ही रखा। स्थूलभद्र की मृत्यु महावीर-निर्वाण के २१५ वर्ष बाद हुई। अर्थात् ई० पू० ३१२ तक जैनागमों

का बहुत कुछ एक मौखिक रूप में रहा। इसके बाद भी तरह तरह से जैनागमों के संरक्षण की मौखिक परम्परा जारी रही। आचार्य वज्र दशपूर्वो के ज्ञाता थे और उनकी मृत्यु ११४ विक्रमी में हुई। पर उनका ज्ञान भी मौखिक ही था। जैन साहित्य के अनुसार अन्तिम वाचना वि० सं० ५१० में वलभी में हुई।

पालि और अर्धमागधी—

बुद्ध वचनों का अन्तिम रूप से संकलन अशोक के काल में हुआ। यही नहीं उसकी तिथि निश्चित है। तीसरी संगीति बुद्ध-निर्वाण के २३६ वर्ष बाद पाटलिपुत्र में हुई। अर्थात् ई० पू० ३०७ में बुद्ध के उपदेशों का अन्तिम रूप से संकलन हो गया। पर इस सम्बन्ध में विद्वानों में विवाद है। अतः इसे हम छोड़ भी दें तो दो और प्रमाण हैं। एक है अशोक के शिलालेख, जिसकी भाषा पालि है और जिसका समय निश्चित है। दूसरा यह कि वट्टगामणि अभय के समय में सिंहल में पालि भाषा में त्रिपिटक लेखबद्ध हुए। वट्टगामणि का समय प्रथम शती ई० पू० माना जाता है। पर अर्धमागधी का जो रूप जैनागमों में मिलता है, उसकी इतनी प्राचीनता का प्रमाण निश्चय ही नहीं मिलता। जिस रूप में अर्धमागधी के स्वरूप का साक्ष्य जैनागमों में मिलता है, उसकी ध्वनी और रूप की दृष्टि से पालि से समानताएँ तो हैं, पर उसके आधार पर भी अर्धमागधी को पालि के विकास की अवस्था ही कह सकते हैं। वस्तुतः जैनागमों की अर्धमागधी का रूप पालि के बहुत बाद का है। किन्तु पालि भी ठीक-ठीक मगध की भाषा नहीं है। वस्तुतः पालि का विकास मध्यमण्डलमें बोले जानेवाली उस अन्तर्प्रान्तीय सभ्य भाषा से हुआ, जिसमें भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेश दिए थे और जिसकी संज्ञा बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार 'मागधी' है। इसी मागधी के विकसित विकृत या अधिक ठीक कहें तो विभिन्न

जनपदीय स्वरूप हमें अशोक के अभिलेखों की मागधी में मिलते हैं। यही मागधी अथवा पालि बिम्बिसार से लेकर नन्दों और मौर्य सम्राटों तक की राज भाषा थी। राजकीय भाषा और धर्म की भाषा दोनों भाषा होने का गौरव पालि को मिला। इसी कारण इसकी प्रतिष्ठा दिगन्त व्यापी हुई। करीब छः सौ वर्ष तक इस पालि भाषा ने भारतीय मानस में राज्य किया।

जैनागम साहित्य

भाषा की दृष्टि से जैनागमों की प्राचीनता न होते हुए भी विषय और वस्तु की दृष्टि से जैनागम बहुत प्राचीन हैं। जैनों के तीनों सम्प्रदाय बारह अंगों के नाम के विषय में एकमत हैं। वे बारह अंग ये हैं :—

१. आचार, २. सूत्रकृत, ३. स्थान, ४. समवाय, ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति, ६. ज्ञातृधर्म कथा, ७. उपासक दशा, ८. अंतकृद्दशा, ९. अनुत्तरौप-पातिकदशा, १०. प्रश्न व्याकरण, ११. विपाकसूत्र, १२. दृष्टिवाद। जैन मान्यता के अनुसार दृष्टिवाद का लोप हो गया है। इन अंगों में आचार्य भद्रबाहु के बाद की बातें नहीं हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। बहुत कुछ मिलावट है; पर बहुत कुछ प्राचीन भी है। श्रीकृष्ण, जरासन्ध और पार्श्वनाथ की बातें भी इनमें हैं। महावीर के काल की बहुत सी बातें हैं। यही नहीं, इन जैनागामों में भारतवर्ष के तमाम पिछले दार्शनिक चिन्तन का आरम्भिक रूप है। ऐतिहासिक और दार्शनिक दोनों ही दृष्टि से जैनागम का बहुत महत्व है। पर यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि ऐतिहासिकों दृष्टि से जैनागमों का सम्पादन अभी तक नहीं हुआ। जिस दिन साम्प्रदायिक बुद्धि से ऊपर उठकर जैनागमों का सम्पादन हो जायगा, उस दिन हमारे देश के इतिहास के कुछ बन्द पृष्ठ खुल जायँगे, इसमें जरा भी सन्देह नहीं।

त्रिपिटक साहित्य

प्राचीन मागधी साहित्य का अर्थ होता है बुद्ध के उपदेश। बुद्ध के

उपदेश त्रिपिटकों में तो हैं ; पर विनय और धम्म में ही उसका सार रूप स्पष्ट होता है। बौद्ध धर्म की कोई प्राचीन परम्परा नहीं थी। बौद्ध संघ में ब्रह्मचर्य और त्याग को आवश्यक स्थान मिला था। पर फिर भी बुद्ध का मार्ग तपस्या का मार्ग नहीं, मध्यम मार्ग था। बुद्ध ने बहुत से अपरिपक्व बुद्धि के तरुणों का विलास छोड़वाकर उन्हें भिक्षु संघ में लिया था। अनेक दासों और कर्जमन्दों ने अपनी रक्षा के लिये भिक्षु संघ में शरण ली थी। ऐसी ही बहुत सी स्त्रियाँ भी भिक्षुणी हुई थीं। इन्हीं कारणों से बुद्ध के काल में भिक्षु संघों में व्यभिचार बढ़ गया। कौशाम्बिक भिक्षुओं के अनाचार के कारण बुद्ध को बहुत खिन्न होना पड़ा था। इन्हीं सब कारणों से बुद्ध ने समय समय पर भिक्षुओं के लिये आचार सम्बन्धी जो नियम बनाए, उन्हीं का संकलन विनय पिटक है।

दीघ-निकाय, मज्झिम-निकाय, संयुक्त-निकाय, अंगुत्तर-निकाय और खुद्दक-निकाय पालि साहित्य के अपूर्व ग्रन्थ हैं। इनमें बुद्ध के उपदेश संग्रहीत हैं। इनमें छठीं और पांचवी शताब्दी ई० पू० के भारतीय जीवन की पूरी झलक है। बुद्ध का ऐतिहासिक व्यक्तित्व, उनका मानवीय स्वरूप वहाँ स्पष्ट शब्दों में अंकित मिलता है। इसमें यथार्थ और विवेक दोनों का स्पष्ट रूप है। बुद्ध के समकालीन अन्य श्रमणों, ब्राह्मणों, परिव्राजकों के सिद्धान्तों का विवरण भी इसमें है। धनी किसानों की स्थिति, गुलामों की स्थिति, गरीबों की स्थिति, प्रचलित उद्योग-व्यवसाय, कला और मनोरंजन के साधनों का वर्णन, राजनैतिक परिस्थिति, स्त्रियों की परिस्थिति, जाति और वर्णवाद का भी वर्णन है। साहित्य और ज्ञान की अवस्था, कृषि और वाणिज्य का भी पूरा पता इन ग्रन्थों से लग जाता है। इन ग्रन्थों के कुछ अंश तो बहुत ही प्रसिद्ध है। धम्मपद तो एक तरह से बौद्ध धर्म की गीता है। सुत्तनिपात का निद्देस सारिपुत्त का लिखा है। सुत्तनिपात के विचार और उसकी शैली उपनिषदों की सी है।

पालि साहित्य में जातकों का स्थान कम महत्वपूर्ण नहीं है। कहानी

कला की दृष्टि से वह अति प्राचीन कहानी संग्रह है। इतिहास की दृष्टि से जातकों की अतीत-कथाओं का ऐतिहासिक मूल्य है। जातकों का असली नाम जातकत्थवण्णना है। वह जातकट्ठकथा के सिंहली अनुवाद का फिर से किया हुआ पालि अनुवाद है। आचार्य बुद्धघोष ने यह अनुवाद प्रस्तुत किया है। मूल जातकट्ठकथा में दो वस्तुएँ थीं, एक गाथाएँ और दूसरी उनकी अट्ठकथा। प्रत्येक जातक की कहानी में वर्णन है कि बुद्ध के जीवन में अमुक अवसर पर इस प्रकार अमुक घटना घटी, जिससे उन्हें अपने पूर्व जीवन की वैसी ही बात याद आ गयी। फिर बुद्ध एक पुरानी कहानी सुनाते हैं और वही असल जातक—अतीत कथा होती है। उसका कुछ अंश पालियों या गाथाओं में और बाकी गद्य में होता है, वह गद्य भी अट्ठकथा ही है। प्राचीन भारतीय जीवन के प्रत्येक पहलू पर जातकों से अच्छा प्रकाश पड़ता है। जातकों का हिन्दी अनुवाद हो चुका है; पर अभी तक उसका ऐतिहासिक अध्ययन नहीं हुआ है।

बुद्ध के उपदेशों का दार्शनिक ग्रन्थ अभिधम्म-पिटक है। पर ऐसा नहीं कहा जा सकता कि अभिधम्म के अलावा और कहीं बुद्ध के धर्म का निर्देश या उपदेश नहीं है। वस्तुतः सार रूप से अभिधम्म बौद्ध तत्त्व-दर्शन के अध्ययन की वस्तु है। इसीलिए उसे अभिधम्म अथवा उच्चतर धर्म कहा गया है। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार बुद्ध ने अभिधम्म का उपदेश सर्व प्रथम देवलोक में अपनी माता महामाया और देवताओं के लिये किया। बाद में उसी को उन्होंने अपने बुद्धिमान् शिष्य धर्म सेनापति सारिपुत्र को सुनाया। सारिपुत्र ने बुद्ध से सीखकर उसी अभिधम्म को ५०० भिक्षुओं को सिखाया। इस अनुश्रुति से स्पष्ट है कि बुद्ध के चुने हुए कुछ शिष्य ही अभिधम्म को समझने में समर्थ थे। अर्थात् अभिधम्म पिटक बौद्ध तत्ववाद को समझने के लिये बुद्ध के उपदेशों का सार है। परम्परा से प्राप्त अभिधम्म-पिटक के सात ग्रन्थ इस क्रम से हैं--

१. धम्म संगणि, २. विभंग, ३. कथावत्थु, ४. पुग्गलपञ्ञत्ति,

५. धातुकथा, ६. यमक, और ७. पट्ठान। अभिधम्म का विषय यह बताना है कि व्यक्ति रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूपी पांच स्कन्धों की समष्टि के अलावा और कुछ नहीं है। सभी स्कन्ध अनित्य, अनात्म और दुःख हैं। इनमें अपनापन खोजना दुःख का ही कारण हो सकता है। अभिधम्म-पिटक में सभी स्कन्धों का विश्लेषण करके विषय को स्पष्ट किया गया है; पर इन सब में मूल वस्तु सुत्तन्त से ही ली गयी है। सुत्तन्त में उदाहरण दे देकर जन-साधारण की समझ में आनेवाली भाषा में समझाया गया है। पर अभिधम्म में उदाहरणों की सहायता नहीं ली गयी है, इसकी भाषा भी कठिन और पंडितों की समझ में आने लायक है। कहीं प्रश्न-उत्तर की शैली है और कहीं विषय की सूक्ष्मता को देखते हुए और उसको स्पष्ट करते हुए यमक शैली का भी उपयोग किया गया है। कहने का तात्पर्य यह कि अभिधम्म-पिटक शुष्क और गम्भीर ग्रन्थ है। पर यदि श्रद्धापूर्वक उसका अभ्यास किया जाय, तो सम्पूर्ण बौद्ध तत्व दर्शन उसी से स्पष्ट हो जायँगे।

भारत की प्राचीन राष्ट्रभाषा—पालि

जैन आगम और बौद्ध त्रिपिटक मगध का प्राचीन साहित्य है। इस प्राचीन मागधी साहित्य में महाभारत काल से लेकर ईसा की पहली शताब्दी तक की बहुत कुछ चिन्ताधारा संग्रहीत है। यह नहीं कि इस काल में संस्कृत में रचना न हुई हो। उपनिषदों की रचना, सूत्रों की रचना और अर्थशास्त्र की रचना इसी काल में हुई। पर बिम्बिसार से लेकर अन्तिम मौर्य तक पालि राजकाज की भी भाषा थी। प्रधान रूप से पालि में ही अशोक के धर्मलेख सर्वत्र मिलते हैं। इससे सिद्ध है कि पालि उस काल की राजकाज की भाषा थी। अर्थात् मागधी जैन और बुद्ध के कंठ से निकलकर सम्राट के कंठ की वाणी बनी, अनुशासनों की भी भाषा बनी।

संस्कृत राज आसन पर

चाणक्य ने अपनी रचना संस्कृत में की ; पर उसने पालि को उसके आसन से हटाया नहीं। शायद इसलिए कि उस समय श्रमण जीवन और श्रमण साधना निस्तेज नहीं थी। वह ढोंग और आडम्बर से परिपूर्ण राख की ढेर नहीं थी ; पर पतञ्जलि ने पालि भाषा को भी उसके आसन से ढकेल दिया। बौद्धों के शासन को ही उसने मगध से नहीं हटाया ; बौद्धों की भाषा—पालि को भी राज-आसन से उतार दिया। पुष्यमित्र के काल से ही संस्कृत का भी अभ्युत्थान शुरू हुआ और फिर तो इसके बाद का सारा बौद्ध और जैन साहित्य संस्कृत में ही निर्मित हुआ।